पालि-प्राकृत-अपभ्रंश-संग्रह

पालि-प्राकृत-अपभ्रंश-संग्रह

पालि-प्राकृत-अपभ्रंश-संग्रह

पालि-संग्रह

रामअवध पाण्डेय

रविनाथ मिश्र



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी



पालि-संग्रह

[पालि-प्राकृत-अपभ्रंश-संग्रह से संकलित]

सम्पादक
रामअवध पाण्डेय, एम० ए०, पी-एच० डी०, व्याकरणाचार्य
संस्कृत विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर
तथा
रविनाथ मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०
संस्कृत विभाग,
सतीशचन्द्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बलिया



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

PĀLI-SANGRAH
Edited by
Dr. Ram Avadh Pandeya and Dr. Ravinath Mishra
Second Edition : 1976
Rs. 7.50

द्वितीय संस्करण : १९७६ ई०
मूल्य : छह रुपये पचास पैसे

प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी–२२१००१
मुद्रक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस), ७३२९–३२

विनिवेदन

पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाएँ संस्कृत भाषा से विकसित हुई हैं तथा आगे चलकर इन्हीं भाषाओं से आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं—हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी आदि—का उद्भव हुआ। अतः भारतीय आर्य-भाषाओं के विकास-क्रम तथा भारतीय संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से इन भाषाओं का अध्ययन नितान्त उपयोगी है। यह संग्रह इसी दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। इसमें पालि भाषा के विशिष्ट अंश संकलित किये गये हैं।

आरम्भ की भूमिका में संसार की समस्त भाषाओं का वर्गीकरण, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं की व्युत्पत्ति तथा पालि भाषा में निहित वाङ्मय का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

संग्रह के अन्त में दिये गये परिशिष्ट में इस संग्रह में संगृहीत पालि के संक्षिप्त व्याकरण तथा कतिपय शब्दों की व्युत्पत्ति तथा उनके अर्थ हैं।

अध्येताओं की सुविधा के लिए मूल अंशों के साथ संस्कृत तथा हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। आशा है, यह संकलन पालि भाषा के अध्ययन में सहायक होगा।

पालि-प्राकृत-अपभ्रंश भाषाओं के अप्रचलित होने के कारण इनका मुद्रण तथा प्रूफ-संशोधन दोनों ही दुष्कर हैं। इसी कारण पुस्तक के मुद्रण में विलम्ब हुआ ही, अनेक प्रयत्न करने के बाद भी मुद्रण की कुछ अशुद्धियाँ रह गयी हैं जिनके लिए विज्ञ पाठक क्षमा करेंगे।

इस संग्रह को प्रस्तुत करने में अनेक ग्रंथों की सहायता ली गयी है। उन ग्रंथकारों के प्रति संपादक अपना आभार प्रकट करते हैं।

इस संग्रह को प्रस्तुत करने की प्रेरणा पं० विद्यानिवासजी मिश्र, प्राध्यापक तथा विभागाध्यक्ष, भाषाविज्ञान तथा आधुनिक भाषाएँ, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से मिली। वे समय-समय पर इसके संग्रह, अनुवाद आदि में सहायता एवं सुझाव देते रहे हैं। उन्होंने कृपापूर्वक प्राक्कथन लिखकर इस पुस्तक को महत्ता प्रदान की है, उनके प्रति आभार व्यक्त करना धृष्टता होगी।

श्री पं० राजकिशोरमणि त्रिपाठी तथा श्री पं० विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी की प्रेरणा तथा सुझावों का परिणाम है कि ग्रन्थ इस रूप में प्रस्तुत हो सका। हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

विश्वविद्यालय प्रकाशन के अधिष्ठाता श्री पुरुषोत्तमदास मोदी के अदम्य उत्साह एवं सतत प्रेरणादायक प्रयत्नों का परिणाम है कि यह पुस्तक प्रकाश में आ सकी।

इसके प्रकाशन में उन्हें जिन-जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है उनका ज्ञान हमें है। यदि मोदीजी का वश चलता और ज्ञानमण्डल लिमिटेड में, जहाँ यह पुस्तक मुद्रित हुई है, श्रमिक-विवाद न खड़ा हुआ होता तथा वाराणसी में ही इन भाषाओं के सुविज्ञ प्रूफ-संशोधक मिल गये होते तो गत वर्ष ही यह पुस्तक प्रकाशित हो गयी होती। अतः वे विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं।

इस संग्रह में हमारी ओर से भी त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है। अध्येताओं तथा विद्वानों से निवेदन है कि वे इनकी जानकारी देने की कृपा करें, ताकि अगले संस्करण में अपेक्षित सुधार किये जा सकें।

श्रीकृष्ण जन्माष्टमी,
२०२५ विक्रमीय।

सम्पादकद्वय

पालि-संग्रह

पालि-प्राकृत-अपभ्रंश-संग्रह से पालि के पाठ्यांश केवल पालि का अध्ययन करने-वाले छात्रों की सुविधा के लिए अलग से प्रकाशित किया गया है। इससे पुस्तक का मूल्य कम हो गया और पालि भाषा तथा साहित्य-संबंधी सामग्री भी बढ़ा दी गयी है। आशा है, यह संग्रह पालि भाषा तथा साहित्य के अध्येताओं के लिए अधिक उपादेय होगा।

प्रकाशक

प्राक्कथन

पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का अध्ययन केवल इसलिए महत्त्व नहीं रखता है कि पालि में थेरवाद बौद्धसम्प्रदाय का वाङ्मय है तथा प्राकृत और अपभ्रंश में जैन-सम्प्रदाय के वाङ्मय हैं, बल्कि महत्त्व का यह कारण बहुत ही गौण है, वस्तुतः पालि, प्राकृत और अपभ्रंश समग्र भारतीय चिन्तन के बीच की कड़ियों के प्रमुख माध्यम हैं। इसलिए इनका अध्ययन महत्त्वपूर्ण है।

कहीं-कहीं तो जो कड़ियाँ लौकिक संस्कृत में उपलब्ध नहीं हैं, (केवल वैदिक संस्कृत में मिलती हैं) वे पालि आदि में ही मिलती हैं, उदाहरण के लिए आत्मनेपद अन्य पुरुष बहुवचन में सरेफ रूप *विज्रे < विद्यरे; या रहने के अर्थ में 'क्षि' धातु का प्रयोग 'अच्छइ' के रूप में प्राकृत में।

भाषा की निरंतरता की दृष्टि से तो बहुत ही बहुमूल्य सामग्री इन भाषाओं में सुरक्षित है तथा किस प्रकार धीरे-धीरे आर्येतर परिवार की भाषाओं के निकट सम्पर्क से संघटना में, विशेष करके क्रिया-सङ्घटना में परिवर्तन हुए हैं, इसका क्रमिक इतिहास इन भाषाओं के अध्ययन के बिना नहीं चल सकता है। अपभ्रंश भाषा तो प्राचीन और आधुनिक भाषाओं के बीच की बहुत ही महत्त्वपूर्ण कड़ी है, इसी में आज की विविध भाषाओं का बीजरूप देखा जा सकता है। अपभ्रंश ने एक बार पुनः संस्कृत का आश्रय लेकर भाषा में लचीलेपन को महत्त्व दिया और इसका अनुसरण आधुनिक आर्यभाषाओं के इतिहास में आवश्यकतानुसार कई युगों में किया गया।

इस प्रकार पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का इतिहास केवल आर्यपरिवार की भाषाओं के क्रमिक विकास को ही समझने में सहायक नहीं होता अपितु द्रविड़, मुण्डा और किरात परिवार की भाषाओं से प्राप्त प्रभावों की ओर ध्यान आकृष्ट करता है और यह समझने में सहायक होता है कि विभिन्न परिवारों के प्रभावों के परस्पर सङ्घात के कारण आज भारत की समस्त भाषाओं में सङ्घटना की दृष्टि से एकरूपता है। धर्म और भाषा के अलावा सामाजिक परिस्थिति के ज्ञान की दृष्टि से भी बहुमूल्य सामग्री इन भाषाओं के वाङ्मय में निहित है। बुद्धोत्तर भारत के इतिहास को आकार देने में सर्वाधिक योगदान इन्हीं वाङ्मयों ने किया है, विशेष रूप से सामाजिक इतिहास को आकार देने में। पालि और प्राकृत दोनों वाङ्मय में अनेक व्यवसायों के सजीव चित्र हैं जो संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध नहीं हैं, एक प्रकार से संस्कृत वाङ्मय के पूरक के रूप में हैं।

इन सबसे अधिक इन भाषाओं के महत्त्व का कारण इनकी लोकाश्रयी काव्य-परम्परा है। पालिभाषा में थेर और थेरीगाथाओं में भक्ति के सहज उद्गार हैं। प्राकृत में गाहा-सत्तसई और अन्य स्फुट मुक्तक रचनाओं में प्रकृति, लोक-जीवन और मानवीय

प्रेम के अद्वितीय हृदयग्राही चित्रण मिलते हैं। इनसे प्रभावित होकर स्वयं संस्कृत में अमरुशतक, आर्यासप्तशती, गीतगोविन्द जैसी अनेक रससिद्ध रचनाएँ प्रणीत हुई हैं। कहा जाता है कि मध्ययुगीन वैष्णव-साहित्य का रससर्वस्व राधा नाम गाहासत्तसई की एक गाहा में आया है। इन गाहाओं में एकदम अछूते विम्बों और उपमानों के प्रयोग के द्वारा अपूर्व चिन्तित अर्थों की अभिव्यञ्जना की गयी है, जिससे साहित्य में नयी प्राणवत्ता स्थापित हुई है। इसीलिए राजशेखर के युग में प्रत्येक संस्कारी व्यक्ति के लिए संस्कृत के साथ-साथ देशी भाषाओं का ज्ञान और इनकी कविताओं और गीतियों का अभ्यास सहृदय या कवि के लिए अपरिहार्य समझा जाता था। जो लोग भारतीय साहित्य के बारे में खण्ड-दृष्टि रखते हैं वे तो इस परम्परा को विद्रोह के रूप में स्थापित करना चाहते हैं, पर वास्तविकता यह है कि यह परम्परा पूरक है, विरोधी नहीं। कालिदास के युग तक में ही यह बात प्रतिष्ठित हो गयी थी कि—

द्विधाप्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव।
संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं, वधूं सुखग्राह्य निबन्धनेन॥

शिव की वन्दना सरस्वती ने संस्कृत के माध्यम से और पार्वती की सुखग्राह्य प्राकृत के माध्यम से की। लोकगीतों की परम्परा का निश्चय ही इसमें संकेत मिलता है। भारतीय दृष्टि, अविभक्त दृष्टि कभी भी नहीं रही है। मुझे प्रसन्नता है कि प्रस्तुत संग्रह के सम्पादकों ने यह दृष्टि सामने रखी है। जो लोग संस्कृत के विरोध में पालि, प्राकृत और अपभ्रंश को स्थापित करते हैं, वे लोग संस्कृत का उतना अहित नहीं करते जितना कि पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के अध्ययन का।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि प्रस्तुत सङ्कलन पाठ्य-पुस्तक के रूप में ही नहीं, बल्कि समस्त भारतीय वाङ्मय के अध्ययन की दृष्टि से भी उपयोगी सिद्ध होगा।

विद्यानिवास मिश्र

विषय-सूची

पालिसंगहो–४

———

भूमिका

'पालि--संग्रह' पुस्तक में, जैसा कि नाम से ही ज्ञात होता है, इस भाषा के कुछ प्रतिनिधि गद्यांश एवं पद्यांश संगृहीत हैं। वस्तुतः वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत-साहित्य के अध्ययन के बाद यदि इन भाषाओं तथा इनके साहित्य का अध्ययन न हो तो भारतीय-संस्कृति और भारतीय-भाषाओं का (प्रारम्भ से लेकर आज तक) सम्बन्ध जुटा हुआ नहीं माना जा सकता। इस सम्बन्ध को जोड़ने के लिए भाषाशास्त्र का अध्ययन, अन्य साधनों के साथ, महत्त्वपूर्ण साधन है। आजकल सौभाग्य से भाषाशास्त्र का अध्ययन, जिसका क्रम हजारों वर्ष पूर्व से ही इस देश में है, पर्याप्त प्रगति कर चुका है और करता जा रहा है। जहाँ प्राचीन भाषा-विज्ञान के पण्डितों ने प्रायः एक ही किसी भाषा की निरुक्ति, व्याकरण आदि समस्याओं पर गम्भीर विचार प्रस्तुत किये हैं, वहीं भाषा-शास्त्र के (कम-से-कम तुलनात्मक भाषाशास्त्र के) पण्डितों ने विभिन्न भाषाओं का आपस में तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसी अध्ययन के प्रसंग में इन लोगों ने संसार की प्रायः समस्त जीवित भाषाओं के व्याकरण, गठन आदि को आधार मानकर वर्गीकरण (विभाजन) किया है।

संसार की भाषाएँ

भाषा, विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम है। संसार के कोने-कोने में निवास करनेवाले मनुष्य किसी-न-किसी भाषा के माध्यम से ही अपने विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। मनुष्यों में जिस प्रकार भौगोलिक तथा ऐतिहासिक आदि कारणों से अनेक भेद पाये जाते हैं उसी प्रकार उनकी भाषाओं में भी भेद हैं। विद्वानों के मत से आजकल जीवित भाषाएँ प्रायः दो हजार से भी अधिक हैं। यद्यपि इनका वर्गीकरण अन्तिम रूप से हो गया है, ऐसा नहीं माना जा सकता, तथापि स्थूल रूप से इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है :—

१. भारोपीय परिवार (Indo-European Family)

(क) हिन्द-ईरानी भारत—ईरानी अथवा आर्य शाखा (Indo-Aryan)।

इसके निम्नलिखित समुदाय हैं :—

(i) भारतीय आर्य भाषा समुदाय।

(ii) ईरानी भाषा समुदाय।

(iii) दरद समुदाय।

(ख) आर्मेनीय शाखा (Armenian Branch)।

(ग) बाल्टो-स्लावोनिक शाखा (Balto-Slavonic Branch)।

इसके अन्तर्गत दो समुदाय हैं :—

(i) बाल्टिक समुदाय ।

(ii) स्लाव समुदाय ।

(घ) अल्बेनियन शाखा (Albanian Branch) ।

इन उपर्युक्त समुदायों को 'शतम' नाम से अभिहित किया जाता है ।

(ङ) ग्रीक या हेलेनिक शाखा (Greek or Hellenic Branch) ।

(च) इतालीय शाखा (Italic Branch) ।

(छ) केल्ती शाखा (Celtie Branch) ।

(ज) जर्मनीय या ट्यूटानिक शाखा (Germanic or Tutonic Branch), इन चारों को 'केण्टुम' शाखा कहा जाता है ।

२. सेमेटिक परिवार (Semetic Family) ।

३. तिब्बत-चीनी परिवार (Tibet-China Family) ।

४. युराल-अल्ताई परिवार (Ural-Altai Family) ।

५. द्राविड-परिवार (Dravadian Family) ।

६. मलय-पॉलीनेशियन ऑस्ट्रिक परिवार (Malay-Polynesian Austric Family) ।

इसके अन्तर्गत तीन शाखाएँ हैं—

(क) मलय शाखा ।

(ख) पॉलीनेशियन शाखा ।

(ग) कोल शाखा ।

७. अफ्रीका परिवार (Hemetic Family) ।

इसके अन्तर्गत दो शाखाएँ हैं—

(क) इजिप्शियन शाखा ।

(ख) लीबियन शाखा ।

८. मध्य अफ्रीका भाषा-परिवार (Middle African Family) ।

९. बाण्टू परिवार (Bantu Family) ।

१०. अमेरिकी परिवार (American Family) ।

११. आस्ट्रेलिया परिवार (Australian Family) ।

१२. मिश्रित परिवार (Mixed Family) । इसके अन्तर्गत निम्नलिखित तीन भाषाओं को रखा जाता है—

(क) जार्जियन,

(ख) वास्क,

(ग) एट्रस्कन ।

इस वर्गीकरण में भारोपीय परिवार की भारत-ईरानी परिवार की उपशाखा के भारतीय आर्य-भाषा-भेद से तात्पर्य होने के कारण नीचे उसकी चर्चा की जाती है—

भारतीय आर्य-भाषा

इतिहास की दृष्टि से भारतीय आर्य-भाषाओं की तीन अवस्थाएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। यद्यपि ये अधोलिखित अवस्थाएँ रचना की दृष्टि से नहीं हैं, तथापि भाषा के विकास-क्रम को देखते हुए इन्हें मानना पड़ता है। अन्यथा रचनाएँ तो पालि-काल में भी संस्कृत की हुई हैं तथा संस्कृत-काल में पालि की।

(क) प्राचीन भारतीय आर्य-भाषा-काल (प्रागैतिहासिक काल से ५०० ई० पूर्व तक) इसमें वैदिक-संस्कृत और लौकिक-संस्कृत आती हैं।

(ख) मध्यभारतीय आर्य-भाषा-काल (५०० ई० पू० से १००० ई० तक), इसमें अशोक के अभिलेखों की भाषा, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश आती हैं।

(ग) आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा-काल (१००० ई० से वर्तमान समय तक), इसमें आधुनिक हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, उड़िया, असमिया आदि आती हैं।

मध्यभारतीय आर्यभाषा--मध्यभारतीय आर्यभाषा की तीन अवस्थाएँ हैं--

(क) पालि एवं अभिलेखीय प्राकृत--इसका काल ई० पू० ५०० से प्रथम शताब्दी तक है।

(ख) साहित्यिक प्राकृत--साहित्यिक प्राकृत का काल दूसरी शती से पाँचवीं शती तक आता है। इसके अन्तर्गत शक, सातवाहन एवं कुषाण अभिलेखों की भाषा, निया प्राकृत, बौद्ध-संस्कृत एवं साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ गिनायी भी जा सकती हैं। इसके अन्तर्गत अपभ्रंश का प्रारम्भिक युग भी गिना जा सकता है।

(ग) तृतीय मध्यभारतीय आर्यभाषा का काल ६०० ई० से १००० ई० तक का कहा जा सकता है। इसके अन्तर्गत कृत्रिम साहित्यिक प्राकृत भाषाओं, अपभ्रंश एवं अवहट्ट [illegible] की गिनती की जा सकती है।

पालिभाषा

पालि की व्युत्पत्ति--पालि शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत मिलते हैं। पालि शब्द से आजकल जिस अर्थ का बोध होता है उसी अर्थ का बोध तथा जिस भाषा को पालिभाषा कहते हैं, ये दोनों अपेक्षाकृत नवीन हैं। (क) पालि शब्द का प्रयोग चतुर्थ शताब्दी में होनेवाले आचार्य बुद्धघोष की अट्ठकथाओं और उनके विसुद्धिमग्ग में मिलता है। बुद्धघोष ने 'बुद्धवचन' या मूल त्रिपिटक के रूप में तथा 'पाठ' या 'मूल त्रिपिटक के पाठ' के अर्थ में पालि शब्द का प्रयोग किया है। जहाँ कहीं उन्होंने पोराण-अट्ठकथा (प्राचीन-अर्थकथा) से भिन्नता दिखाने के लिए मूल-त्रिपिटक के किसी अंश को संकेतित किया है वहाँ उन्होंने पालि शब्द से बुद्धवचन या त्रिपिटक को संकेतित किया है, जैसे--विसुद्धिमग्ग में 'इमानि ताव पालियं, अट्ठकथायं पन.....(ये तो पालि में हैं, किन्तु अट्ठकथा में तो.....) आदि। इसी प्रकार चौथी शताब्दी की रचना 'दीपवंस' पाँचवीं, छठी शताब्दी की आचार्य धम्म-

पाल की रचना 'परमत्थदीपिनी', तेरहवीं शताब्दी की रचना 'चूळवंस' आदि में पालि शब्द का प्रयोग 'बुद्धवचन' एवं 'मूल त्रिपिटक' के अर्थ में किया गया है।

(ख) महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य ने 'पालि' शब्द का विकास संस्कृत के 'पंक्ति' शब्द से माना है, इन्होंने इसका यह क्रम बताया है—पंक्ति>पन्ति>पत्ति>पल्लि>पालि।

इस मत की आलोचना करते हुए भिक्षु जगदीश काश्यप ने इसमें मुख्यतः तीन कमियाँ दिखायी हैं—

१. पंक्ति के लिए लिखित ग्रन्थ का होना आवश्यक है। त्रिपिटक प्रथम शताब्दी ई० पूर्व से पहले लिखा नहीं गया था। अतः उस समय के लिए त्रिपिटक के उद्धरण के लिए 'पालि' या 'पंक्ति' शब्द इस अर्थ में नहीं प्रयुक्त हो सकता था।

२. 'पालि' शब्द का अर्थ यदि 'पंक्ति' होता तो उस अवस्था में 'उदान पालि' जैसे प्रयोगों में 'उदान पंक्ति' ऐसा प्रयोग करने से कोई समझने योग्य अर्थ नहीं निकलता।

३. 'पालि' शब्द का अर्थ यदि 'पंक्ति' होता तो अट्ठकथाओं आदि में कहीं भी उसका बहुवचन में भी प्रयोग दृष्टिगोचर होना चाहिए था, जो नहीं होता। अतः 'पालि' शब्द का 'पंक्ति' अर्थ उसके मौलिक स्वरूप तक हमें नहीं ले जा सकता।

(ग) भिक्षु सिद्धार्थ ने 'पाळि' या 'पालि' शब्द का मूल संस्कृत 'पाठ' शब्द को माना है। उनका कहना है कि जब वेदपाठी ब्राह्मण बौद्ध हुए तो वेदपाठ शब्द परिचित होने के कारण बुद्ध-वचनों के लिए भी उन लोगों ने 'पाठ' शब्द का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। पूर्वाभ्यास के कारण ही ऐसा हो सका था। बाद में वही 'पाठ' शब्द पाळ>पाळि>पालि हो गया। कुछ लोगों को यह उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इसे ऐतिहासिक रूप से ठीक होने के लिए यह आवश्यक है कि 'पाळ' शब्द का प्रयोग पालि-साहित्य में उपलब्ध हो। तभी उसके आधार पर 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति की स्थापना की जा सकती है, किन्तु भिक्षु सिद्धार्थ ने अपने निबन्ध में एक भी ऐसा उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया।

(घ) भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपने 'पालि महाव्याकरण' की 'वस्तुकथा' में यह सिद्ध किया है कि पालि शब्द का प्राचीनतम रूप 'परियाय' शब्द में मिलता है। परियाय शब्द त्रिपिटक में अनेक बार आया है, जैसे—'को नामो, अयं भन्ते, धम्मपरियायो ति' तथा 'भगवता अनेक परियायेन धम्मो पकासितो' आदि-आदि। ऐसे स्थलों में 'परियाय' शब्द का अर्थ बुद्धोपदेश है। परियाय से ही 'पलियाय' हो गया। अशोक के प्रसिद्ध बभ्रु शिलालेख में 'पलियाय' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में मिलता है। जैसे—इमानि भन्ते, धम्मपलियायानि ...... 'एतानि भन्ते, धम्मपलियायानि इच्छामि' ......। पलियाय शब्द के पलि उपसर्ग का दीर्घ होकर बाद में 'पालियाय' शब्द बन गया। पलियाय शब्द का ही संक्षिप्त रूप बाद में 'पालि' होकर बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

(ङ) इन मतों के अतिरिक्त जर्मन विद्वान् डॉ० मैक्स वेलेसन ने 'पाटलि' या 'पाडलि' (पाटलिपुत्र की भाषा) शब्द का ही संक्षिप्त रूप पालि है, ऐसा माना है।

(च) कुछ विद्वानों ने 'पल्लि' (गाँव) शब्द से पालि की उत्पत्ति बतायी है।

(छ) कुछ ने प्राकृत > पाकट > पाअड > पाअल > पालि इस प्रकार की व्युत्पत्ति बताने का प्रयत्न किया है।

(ज) कुछ लोगों ने तो 'प्रालेय' या 'प्रालेयक' (पड़ोसी) शब्द से पालि की व्युत्पत्ति बतायी है। वस्तुस्थिति यह है कि इस प्रकार के कपोलकल्पित मतों की कोई स्थिति नहीं मानी जा सकती।

(झ) अभिधानप्पदीपिका में जो पालि-भाषा का एकमात्र कोश ग्रन्थ है, पालि शब्द का अर्थ दिया गया है। पालि शब्द को 'तन्ति' (संस्कृत-तन्त्र) 'बुद्ध-वचन' और 'पंक्ति' का समानार्थवाची मानते हुए इसकी व्युत्पत्ति वहाँ की गयी है—"पालेति रक्खतीति पालि।" अर्थात् जो पालन करती है, रक्षा करती है, वह पालि है। अभिधानप्पदीपिका की यह व्युत्पत्ति सम्भवतः उस ऐतिहासिक तथ्य की तरफ संकेत करती है जिसका उल्लेख 'महावंस' में मिलता है कि "जब भिक्षुओं ने, जो समग्र त्रिपिटक और अट्ठकथाएँ कण्ठस्थ कर ले गये थे, एकत्र होकर जनता के कल्याण के लिए उन्हें लेखबद्ध किया था।"

(ञ) संस्कृतभाषा के पालि शब्द के पर्याय गिनाते हुए अमरकोशकार ने, 'कोणस्तु स्त्रियः पाल्यश्रिकोट्यः' (अम०, २।८।९३) लिखा है। अमरकोश के प्रसिद्ध टीकाकार भानुजी दीक्षित ने पालि शब्द की व्युत्पत्ति बतायी है—'पाल रक्षणे' धातु से 'अच् इः' (उ०, ४।१३९) सूत्र से 'इ' प्रत्यय होकर पालि शब्द बना है। भानुजी दीक्षित से पूर्व अमरकोश के टीकाकार रायमुकुट ने 'पा रक्षणे' धातु से 'ऋतन्यञ्जि०' (उ०, ४।२) सूत्र से बाहुलकात् 'आलि' प्रत्यय करके 'पालि' शब्द सिद्ध किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि पालि-भाषा के वैयाकरणों द्वारा स्वीकृत दोनों धातुओं से पालि शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के वैयाकरणों एवं कोशकारों द्वारा पूर्व स्वीकृत है। "राजदन्तादिषु परम्" (पा०, २।२।३१), इस पाणिनीय सूत्र में राजदन्तादिगण में 'गोपालिधानपूलासम्' शब्द के पाठ से पालि शब्द का संस्कृत में व्यवहार अतिप्राचीन और सुप्रचलित है। गणपाठों की परम्परा पाणिनिपूर्व होने के कारण, कम-से-कम पाणिनि के पूर्व इसी अर्थ में इसके प्रचलन को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

ऊपर कहे गये सभी मतों को ध्यान में रखने पर इस सन्दर्भ में ऐसा सोच पाना सम्भव हो जाता है कि एक तरफ तो संस्कृत भाषा में 'रक्षा करनेवाला' अर्थ में पालि शब्द के प्रयोग का संस्कार और दूसरी ओर परियाय या पंक्ति या और किसी प्रामाणिक शब्द से निकला हुआ, 'बुद्ध-वचन, बुद्धोपदेश या बुद्धोपदेशना, इन अर्थोंवाला' पालि शब्द का संस्कार था। इन दोनों प्रकार के संस्कारों के सम्मिलन से जिस भाषा में बुद्ध-वचन सुरक्षित हों और जो भाषा प्रायः बुद्ध-वचनमय हो, उसका ही पालिभाषा यह नामकरण हुआ।

पालिभाषा का प्रदेश--जिस प्रकार भोजपुरी, मैथिली, बंगाली, कन्नड़, तेलगू आदि भाषाओं के नाम से ही किसी-न-किसी प्रदेश का संकेत मिलता है, उसी प्रकार 'पालि' शब्द से या इस शब्द की उपर्युक्त व्युत्पत्तियों से किसी भी प्रदेश के संकेत की सम्भावना नहीं प्रतीत होती। व्युत्पत्ति से मात्र इतना ज्ञात होता है कि इस भाषा के द्वारा या इस भाषा में बुद्धवचनों की रक्षा की गयी है और यही कारण है कि कुछ मनीषियों ने इसे मगध की भाषा माना है। यद्यपि मागधी भाषा की पालिभाषा से तुलना करने पर अनेक मौलिक भिन्नताएँ मिलती हैं।

जहाँ तक बुद्धवचनों की रक्षा का प्रश्न है, महायानियों की परम्परा के अनुसार 'मूल सर्वास्तिवाद' के ग्रन्थ संस्कृत में, 'महासांघिक' के प्राकृत में, 'महासम्मतीय' के अपभ्रंश में और स्थविर सम्प्रदाय के पैशाची में थे। हीनयानी लोग यह मानते हैं कि भगवान् बुद्ध ने मूलतः पालिभाषा में ही उपदेश दिये थे। श्रीलंका के भिक्षुओं ने इसी आधार पर मागधी भाषा को ही पालिभाषा समझा और यह कुछ हद तक स्वाभाविक ही है।

इस विवादग्रस्त प्रश्न पर अनेक विदेशी तथा भारतीय विद्वानों ने अपने-अपने मत या सुझाव रखे हैं जो वस्तुतः विचारणीय हैं।

१. डॉ० ओल्डेनबर्ग के मत में पालिभाषा का आधार कलिंग की भाषा थी। इनका कहना है कि सिंहल में 'महिन्द' द्वारा बौद्धधर्म के प्रचार की बात ऐतिहासिक नहीं, अपितु भारत एवं सिंहल के अनेक वर्षों के सम्पर्क से सिंहल में बौद्धधर्म का प्रचार हुआ होगा। यतः खारवेल के खण्डगिरि अभिलेख की भाषा पालिभाषा के बहुत समान है, अतः प्रतीत होता है कि कलिंग से लंका में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ और इस प्रकार कलिंग की भाषा पालि का आधार प्रतीत होती है।

२. वेस्टरगार्ड और कुह्न ने पालि को उज्जैन प्रदेश की बोली माना है। अशोक के गिरनार (गुजरात) अभिलेख की भाषा की पालि से समानता तथा राजकुमार 'महिन्द्र' (महेन्द्र) का जन्म उज्जैन में हुआ था, अतः उनकी मातृभाषा का ज्ञान, ये दो कारण इनके मत को पुष्ट करते हैं।

३. आर० ओ० फ्रैंक और स्टेनकोनो ने बड़े परिश्रम से पालिभाषा को विन्ध्यप्रदेश की भाषा सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

४. डॉ० ग्रियर्सन ने पालिभाषा में मागधी एवं पैशाची की अनेक विशेषताओं को देखकर पालिभाषा का आधार मागधी भाषा को माना है।

५. प्रो० रीज डेविड्स ने बुद्ध भगवान् के इस कथन पर कि वे 'कोसल खत्तिय' (कोशल क्षत्रिय) थे, अतः कोशल की बोली में ही उन्होंने उपदेश किये होंगे। उनके उपदेश यतः पालिभाषा में हैं अतः पालिभाषा एवं कोशलभाषा एक ही है, ऐसा सिद्ध किया है।

६. विंडिश और गायगर ने यह तो कहा कि पालिभाषा एक साहित्यिक भाषा है

और यह सब जनपदों में समझी जाती थी, परन्तु इन लोगों ने इस पर कोई मत नहीं दिया कि वह साहित्यिक भाषा किस जनपद की भाषा पर आधृत है।

७. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने यह तो माना है कि त्रिपिटक मूलतः मागधी भाषा में ही लिखे गये थे, परन्तु सिंहल में जिन गुजराती प्रवासियों को प्रायः ढाई सौ वर्ष तक जो कण्ठस्थ करने का भार दिया गया था उसी बीच सम्भवतः मागधी की सारी विशेषताएँ लुप्त हो गयीं।

८. डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का मत है कि भारतवर्ष में मध्यदेश की बोली का ही सर्वदा विशेष प्रभाव रहा है। अतः पालिभाषा का इसे ही आधार मानना चाहिए। उन्होंने कहा है कि भगवान् बुद्ध के उपदेशों का सर्वप्रथम पूर्वी बोली में ही प्रणयन हुआ और बाद में उनका अनुवाद पालिभाषा में, जो मध्यदेश की प्राचीन भाषा पर आधृत एक साहित्यिक भाषा थी।

उपर्युक्त मतों को देखते हुए तीन ही तथ्य सामने आते हैं--पहला यह कि प्रत्यक्ष मागधी भाषा ही पालिभाषा है, दूसरा महिन्द के सम्बन्ध से उज्जैन की भाषा पालिभाषा है तथा तीसरा पूर्वी बोली का साहित्यिक रूप पालिभाषा है। जहाँ तक पहले मत का सम्बन्ध है, तत्कालीन मगध में बोली जानेवाली भाषा में ही उपदेश दिये गये हों, यह सर्वांशतः बुद्धिगम्य नहीं प्रतीत होता। जहाँ तक दूसरे मत का सम्बन्ध है महिन्द ने अपनी पूरी धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर मूलरूप में यथास्थित बुद्ध-वचनों का ही उपदेश किया होगा, न कि उसमें अपनी भाषा भी मिला दी होगी। रही बात तीसरे मत की। सो तो, यह पर्याप्त सम्भव है कि एक तो स्वयं बुद्धवचन कुछ साहित्यिक भावभंगिमापूर्ण भाषा में हुए हों या जैसा कि डॉ० चाटुर्ज्या ने कहा, उनका अनुवाद इस भाषा में हुआ हो, और सबसे प्रबल बात यह है कि मध्यदेश की भाषा होने के कारण उससे प्रभावित भाषा में यह कार्य हुआ हो।

पालिभाषा में निहित वाङ्मय—यद्यपि पालि वाङ्मय में साम्प्रदायिक ग्रन्थ, जैसे त्रिपिटक, साम्प्रदायिकेतर ग्रन्थ, जैसे मिलिन्दपञ्हो, दीपवंश आदि के अतिरिक्त वुत्तोदय जैसे छन्दःशास्त्र के ग्रन्थ, कच्चायन व्याकरण आदि जैसे व्याकरण के ग्रन्थ अवश्य लिखे गये, तथापि इसमें संस्कृत वाङ्मय आदि अन्य वाङ्मयों की भाँति विभिन्न क्षेत्रों में सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण नहीं हुआ। वर्तमान पालि वाङ्मय का वर्गीकरण चार प्रकार से किया जाता है—

१. चौरासी हजार धर्मस्कन्धों के रूप में इसका प्रथम वर्गीकरण हुआ है, किन्तु प्रयोग में इसका उपयोग नहीं देखा जाता।

२. दूसरा वर्गीकरण नव अङ्गों में किया गया है, जैसे—

१. सुत्त, २. गेय्य, ३. वेय्याकरण, ४. गाथा, ५. उदान, ६. इतिवुत्तक, ७. जातक, ८. अब्भुतधम्म, ९. वेदल्ल। 'सुत्त' का अर्थ सामान्यतः बुद्ध का उपदेश है। दीघनिकाय, सुत्तनिपात आदि में गद्य में रखे हुए भगवान् बुद्ध के उपदेश सुत्त

हैं। गद्य-पद्यमिश्रित अंश 'गेय्य' कहलाते हैं। अभिधम्मपिटक तथा अन्य ऐसे ही अंशों में सन्निहित व्याख्यापरक साहित्य वेय्याकरण = व्याकरण = विवरण = विवेचन कहा जाता है। मात्र पद्य में रचित अंश 'गाथा' कहलाते हैं। भगवान् बुद्ध के मुख से निकले हुए भावमय प्रीति-उद्‌गारों को 'उदान' कहते हैं। 'ऐसा कहा गया' या 'ऐसा तथागत ने कहा' को 'इतिवुत्तक' कहते हैं। 'जातक' का अर्थ बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाएँ हैं। उन सुत्तों को जिनमें अद्‌भुत वस्तुओं या योग-सम्बन्धी विभूतियों का निरूपण है, 'अब्भुतधम्म' कहते हैं। प्रश्न और उत्तर के रूप में लिखे गये ज्ञान पर आधृत या वेद-निःसृत उपदेशों को 'वेदल्ल' कहते हैं।

३. तीसरे प्रकार का वर्गीकरण वह है जिसके अनुसार सम्पूर्ण बुद्धवचनों को पाँच निकायों में बाँटा गया है। १. दीघनिकाय, २. मज्झिमनिकाय, ३. संयुक्तनिकाय, ४. अंगुत्तरनिकाय, ५. खुद्दकनिकाय।

४. चौथे प्रकार के वर्गीकरण के अनुसार पालि या पिटक-साहित्य और अनुपालि या अनुपिटक-साहित्य ये दो स्थूल विभाग किये गये हैं। पालि या पिटक-साहित्य के विकास का इतिहास बुद्ध-निर्वाण-काल से लेकर प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व तक है। अनुपालि या अनुपिटक-साहित्य के विकास का इतिहास प्रथम शताब्दी ई० पू० से वर्तमानकाल तक चला आ रहा है।

पालि या पिटक-साहित्य

- १. सुत्त पिटक
  - १. दीघनिकाय
  - २. मज्झिम-निकाय
  - ३. संयुत्त-निकाय
  - ४. अंगुत्तर-निकाय
  - ५. खुद्दक-निकाय
- २. विनय पिटक
  - १. सुत्तविभंग
    - १. पाराजिक
    - २. पाचित्तिय
  - २. खंधक (विषय-वस्तु की दृष्टि से)
    - १. महावग्ग
    - २. चुल्लवग्ग
  - ३. परिवार
- ३. अभिधम्म पिटक
  - १. धम्मसंगणि
  - २. विभंग
  - ३. धातुकथा
  - ४ पुग्गलपञ्ञत्ति
  - ५. कथावत्थु
  - ६. यमक
  - ७. पट्ठान

दीघनिकाय

- १. सीलक्खन्ध-वग्ग
  - १. ब्रह्मजाल-सुत्त
  - २. सामञ्ञ-फल-सुत्त
  - ३. अम्बट्ठ सुत्त
  - ४. सोणदण्ड सुत्त
  - ५. कूटदन्त सुत्त
  - ६ महालि सुत्त
  - ७. जालिय सुत्त
  - ८. कस्सपसीह-नाद-सुत्त
  - ९. पोट्ठपाद सुत्त
  - १०. सुभसुत्त
  - ११. केवट्ठ सुत्त
  - १२. लोहिच्च सुत्त
  - १३. तेविज्ज सुत्त
- २. महावग्ग
  - १. महापदान-सुत्त
  - २. महानिदान-सत्त
  - ३. महापरिनिब्बाण-सुत्त
  - ४. महासुदस्सन-सुत्त
  - ५. जनवसभ-सुत्त
  - ६. महागोविन्द-सुत्त
  - ७. महासमय-सुत्त
  - ८. सक्कपञ्ह-सुत्त
  - ९ महासतिपट्ठान-सुत्त
  - १०. पायासि राजञ्ञ-सत्त
- ३. पाथेय वा पाथिक-वग्ग
  - १. पाथिक सुत्त
  - २. उदुम्बरिक-सीहनाद-सुत्त
  - ३. चक्कवत्ति-सीहनाद-सुत्त
  - ४. अग्गञ्ञ सुत्त
  - ५. सम्पसाद-नियसुत्त
  - ६. पासादिक सुत्त
  - ७. लक्खण-सुत्त
  - ८. सिंगालोवाद-सुत्त
  - ९. आटाना-टियसुत्त
  - १० संगीतिपरियाय सुत्त
  - ११. दसुत्तर-सुत्त

मज्झिमनिकाय

- १. मूलपरियाय-वग्ग
- २. सीहनाद-वग्ग
- ३. ओपम्म-वग्ग
- ४. महायमक-वग्ग
- ५. चूळयमक-वग्ग
- ६. गहपति-वग्ग
- ७. भिक्खु-वग्ग
- ८. परिब्बाजक-वग्ग
- ९. राज-वग्ग
- १०. ब्राह्मण-वग्ग
- ११. देवदह-वग्ग
- १२. अनुपद-वग्ग
- १३ सुञ्ञता-वग्ग
- १४. विभंग-वग्ग
- १५. सळायतन-वग्ग

१. मूलपरियायवग्ग

१. मूलपरियाय-सुत्त
२. सब्बासव-सुत्त
३. धम्मदायाद-सुत्त
४. भयभेरव सुत्त
५. अनंगण-सुत्त
६. आकंखेय्य-सुत्त
७. वत्थूपम-सुत्त
८. सल्लेख-सुत्त
९. सम्मादिट्ठि-सुत्त
१०. सतिपट्ठान सुत्त

२. सीहनादवग्ग

१. चूळसीहनाद-सुत्त
२. महासीहनाद-सुत्त
३. महादुक्खक्खन्ध-सुत्त
४. चूळदुक्खक्खन्ध-सुत्त
५. अनुमान-सुत्त
६. चेतोखिल-सुत्त
७. वनपत्थ-सुत्त
८. मधुपिण्डिक-सुत्त
९. द्वेधावितक्क-सुत्त
१०. वितक्कसंठान-सुत्त

३. ओपम्मवग्ग

१. ककचूपम-सुत्त
२. अलगद्दूपम-सुत्त
३. वम्मिक सुत्त
४. रथविनीत-सुत्त
५. निवाप-सुत्त
६. अरियपरियेसन-सुत्त
७. चूलहत्थिपदोपम-सुत्त
८. महाहत्थिपदोपम-सुत्त
९. महासरोपम-सुत्त
१० चूलसारोपम-सुत्त

४. महायमक-वग्ग

१. चूळगोसिंग-सुत्त
२. महागोसिंग-सुत्त
३. महागोपालक-सुत्त
४. चूळगोपालक-सुत्त
५. चूळसच्चक-सुत्त
६. महासच्चक-सुत्त
७. चूळतण्हासंखय-सुत्त
८. महातण्हासंखय-सुत्त
९. महा-अस्सपुर-सुत्त
१०. चूळ-अस्सपुर-सुत्त

५. चूलयमक-वग्ग

१. सालेय्यक-सुत्त
२. वेरञ्जक-सुत्त
३. महावेदल्ल-सुत्त
४. चूळवेदल्लक-सुत्त
५. चूळधम्मसमादान-सुत्त
६. महाधम्मसमादान-सुत्त
७. वीमंसक-सुत्त
८. कोसम्बिय-सुत्त
९. ब्रह्मनिमंतणिक-सुत्त
१० मारतज्जनिय-सुत्त

६. गहपति-वग्ग

१. कन्दरक-सुत्त
२. अट्ठकनागर-सुत्त
३. सेख-सुत्त
४. पोंतलिया-सुत्त
५. जीवक-सुत्त
६. उपालि-सुत्त
७. कुक्कुरवतिक-सुत्त
८. अभयराजकुमार-सुत्त
९. बहुवेदनीय-सुत्त
१०. अपण्णक-सुत्त

७. भिक्खु-वग्ग

१. अम्बलट्ठिका-राहुलोवादसुत्त
२. महाराहुलोवाद-सुत्त
३. चूलमालुक्य-सुत्त
४. महामालुक्य-सुत्त
५. भद्दालि-सुत्त
६. लटुकिकोपम-सुत्त
७. चातुम-सुत्त
८. नळकपानक-सुत्त
९. गोलियानि-सुत्त
१० कीटागिरिसुत्त

८. परिब्बाजक-वग्ग

१. तेविज्जवच्छगोत्त-सुत्त
२. अग्गिवच्छ-गोत्त-सुत्त
३. महावच्छ-गोत्त-सुत्त
४. दीघनख-सुत्त
५. मागन्डिय-सुत्त
६. सन्दक-सुत्त
७. महासकुलुदायि-सुत्त
८. समणमुण्डिक-सुत्त
९. चूलसकुलुदायि-सुत्त
१०. वेखनस्स-सुत्त

९. राज-वग्ग

१. घटीकार-सुत्त
२. रट्ठपाल-सुत्त
३. मखादेव-सुत्त
४. मधुर-सुत्त
५. बोधिराजकुमार-सुत्त
६. अंगुलिमाल-सुत्त
७. पियजातिक-सुत्त
८. बाहितिक-सुत्त
९. धम्मचेतिय-सुत्त
१०. कण्णकत्थल-सुत्त

१०. ब्राह्मण-वग्ग

१. ब्रह्मायु-सुत्त
२. सेलसुत्त
३. अस्सलायन-सुत्त
४. घोटमुख-सुत्त
५. चङ्कीसुत्त
६. एसुकारीसुत्त
७. धनंजानि-सुत्त
८. वासेट्ठसुत्त
९. सुभसुत्त
१०. संगारव-सुत्त

११. देवदह-वग्ग

१. देवदह-सुत्त
२. पञ्चत्तय-सुत्त
३. किन्ति-सुत्त
४. सामगाम-सुत्त
५. सुनक्खत्त-सुत्त
६. आणञ्जसप्पाय-सुत्त
७. गणक-मोग्गल्लान-सुत्त
८. गोपकमोग्गल्लान-सुत्त
९. महापुण्णम-सुत्त
१०. चूलपुण्णम-सुत्त

१२. अनुपद-वग्ग

१. अनुपद-सुत्त
२. छब्बिसोधन-सुत्त
३. सप्पुरिस-सुत्त
४. सेवितब्ब-असेवितब्ब-सुत्त
५. बहुधातुक-सुत्त
६. इसिगिलि-सुत्त
७. महाचत्तारीसक-सुत्त
८. आनापानसति-सुत्त
९. कायगतासति-सुत्त
१०. संखारुप्पत्ति-सुत्त

१३. सुञ्ञतावग्ग

- १. चूल-सुञ्ञता-सुत्त
- २. महासुञ्ञता-सुत्त
- ३. अच्छरीयब्भुत-धम्मसुत्त
- ४. बक्कुल-सुत्त
- ५. दन्तभूमि-सुत्त
- ६. भूमिज-सुत्त
- ७. अनुरुद्धसुत्त
- ८. उपक्किलेस-सुत्त
- ९. बालपण्डित-सुत्त
- १०. देवदूत सुत्त

१४. विभंग-वग्ग

- १. भद्देकरत्त-सुत्त
- २. आनन्द-भद्दे-करसुत्त
- ३. महाकच्चान-भद्दकरत्तसुत्त
- ४. लोमसकंगिय-भद्देकरसुत्त
- ५. चूलकम्म-विभंगसुत्त
- ६. महाकम्म-विभंगसुत्त
- ७. सलायतन-विभंगसुत्त
- ८. उद्देसवि-भंगसुत्त
- ९. अरण-विभंगसुत्त
- १०. धातु-विभंगसुत्त
- ११. सच्च-विभंगसुत्त
- ११. दक्खिणा विभंगसुत्त

१५. सळायतन-वग्ग

- १. अनाथपिण्डिकोवादसुत्त
- २. छन्नोवादसुत्त
- ३. पुण्णोवादसुत्त
- ४. नन्दकोवादसुत्त
- ५. चूळराहुलोवादसुत्त
- ६. छछक्कसुत्त
- ७. महासलायतनिकसुत्त
- ८. नगरविन्देय्यसुत्त
- ९. पिण्डपातपारिसुद्धिसुत्त
- १०. इन्द्रियभावनसुत्त

संयुत्त-निकाय

- १. सगाथवग्ग
- २. निदानवग्ग
- ३. खन्धवग्ग
- ४. सळायतनवग्ग
- ५. महावग्ग

१. सगाथवग्ग

- १. देवता-संयुत्त
- २. देवपुत्तसंयुत्त
- ३. कोसलसंयुत्त
- ४. मारसंयुत्त
- ५. भिक्खुणी-संयुत्त
- ६. ब्रह्मसंयुत्त
- ७. ब्राह्मणसंयुत्त
- ८. वंगीससंयुत्त
- ९. वनसंयुत्त
- १०. यक्खसंयुत्त
- ११. सक्क-संयुत्त

२. निदानवग्ग

- १. निदानसंयुत्त
- २. अभिसमय-संयुत्त
- ३. धातुसंयुत्त
- ४. अनमतग्ग संयुक्त
- ५. कस्सपसंयुत्त
- ६. लाभसक्कार-संयुत्त
- ७. राहुलसंयुत्त
- ८. लक्खणसंयुत्त
- ९. ओपम्म-संयुत्त
- १०. भिक्खु-संयुत्त

३. खन्ध-वग्ग

१. खन्ध-संयुत्त
२. राध-संयुत्त
३. दिट्ठि-संयुत्त
४. ओकन्तिक-संयुत्त
५. उप्पाद-संयुत्त
६. किलेस-संयुत्त
७. सारिपुत्तसंयुत्त
८. नाग-संयुत्त
९. सुप्पण-संयुत्त
१०. गन्धब्ब-कायसंयुत्त
११. वलाह-संयुत्त
१२. वच्छगोत्त-संयुत्त
१३. झान-संयुत्त

४. सलायतन वग्ग

१. सलायतन-संयुत्त
२. वेदना-संयुत्त
३. मातुगाम-संयुत्त
४. जम्बखादक-संयुत्त
५. सामण्डक-संयुत्त
६. मोग्गलान-संयुत्त
७. चित्त-संयुत्त
८. गामणि-संयुत्त
९. असंखत-संयुत्त
१०. अव्याकत संयुत्त

५. महावग्ग

१. मग्गसंयुत्त
२. बोज्झंग-संयुत्त
३. सतिपट्ठान-संयुत्त
४. इन्द्रिय-संयुत्त
५. सम्मपधान-संयुत्त
६. बल-संयुत्त
७. इद्धिपाद-संयुत्त
८. अनुरुद्ध-संयुत्त
९. झान-संयुत्त
१०. आनापानसंयुत्त
११. सोतापत्तिसंयुत्त
१२. सच्चसंयुत्त

अंगुत्तर-निकाय

१. एक-निपात
२. दुक-निपात
३. तिक-निपात
४. चतुक्क-निपात
५. पंचक-निपात
६. छक्क-निपात
७. सत्तक-निपात
८. अट्ठक-निपात
९. नवक-निपात
१०. दसक-निपात
११. एकादसक-निपात

खुद्दक-निकाय

१. खुद्दकपाठ
२. धम्मपद
३. उदान
४. इतिवुत्तक
५. सुत्तनिपात
६. विमानवत्थु
७. पेतवत्थु
८. थेरगाथा
९. थेरीगाथा
१०. जातक
११. निद्देस
१२. पटिसम्भिदामग्ग
१३. अपदान
१४. बुद्धवंस
१५. चरियापिटक

सुत्तपिटक—यद्यपि भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के समय तक धम्म और विनय की ही प्रधानता रही है और उसी धम्म और विनय की शरण में बुद्ध भगवान् ने भिक्षुओं को छोड़ा भी था। फिर भी इतिहास, साहित्य एवं अन्य दृष्टियों से सुत्त-पिटक का कम महत्त्व नहीं है। इस पिटक में भगवान् बुद्ध के उपदेश निहित हैं।

'सुत्तपिटक' सुत्त और पिटक दो शब्दों से बना है। अतएव इन दो शब्दों का अर्थ जान लेना आवश्यक है। सुत्त का अर्थ सूत या धागा और पिटक का अर्थ पिटारी है। इस पिटक शब्द का अर्थ लाक्षणिक रूप में परम्परा समझा जाता था। इसी लाक्षणिक अर्थ को दृष्टि में रखकर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने पिटक का अर्थ 'वेद की परम्परा' या 'वचन-समूह' किया है। इस प्रकार इस लाक्षणिक प्रयोग द्वारा सुत्त-पिटक का अर्थ सूत्ररूपी बहुवचनों की परम्परा है। जिस प्रकार सूत के गोले को फेंक देने पर वह खुलता हुआ चला जाता है, उसी प्रकार बुद्धवचन सुत्त-पिटक में प्रकाशित होते हैं।

यद्यपि सुत्त-पिटक का वर्ण्य-विषय बुद्ध के उपदेश हैं, परन्तु इसमें इनके कुछ शिष्यों के उपदेश भी उपलब्ध होते हैं। प्रायः भगवान् बुद्ध जब शिष्यों को उपदेश देते-देते थक जाते थे, उस समय भगवान् सारिपुत्र, मौद्गलायन या आनन्द जैसे किसी शिष्य को उपदेश पूरा करने के लिए बुला लिया करते थे।

भगवान् बुद्ध एवं उनके शिष्यों के उपदेश के अतिरिक्त सुत्त-पिटक में छठी शताब्दी ई० पूर्व भारत के सामाजिक जीवन का पूरा परिचय भी मिलता है। बुद्ध के समकालीन श्रमणों, ब्राह्मणों और परिव्राजकों के जीवन और सिद्धान्तों के विवरण, गौतमबुद्ध के विषय में उनके मत और दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध, तत्कालीन उद्योग-धन्धे, मनोरंजन के साधन, कला और विज्ञान, तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति, ब्राह्मणों के धार्मिक सिद्धान्त, जातिवाद, वर्णवाद, यज्ञवाद, भौगोलिक परिस्थितियाँ, ग्राम, नगर तथा पर्वत आदि का विवरण, कृषि और वाणिज्य, सामाजिक रीतियाँ, जीवन का नैतिक स्तर, स्त्रियों, भृत्यों की अवस्था आदि के विवरण इन पिटक में भरे पड़े हैं।

सुत्तों के आकार के सम्बन्ध में कोई नियम दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। कुछ सुत्त बहुत लम्बे हैं, उन्हें इसी पिटक के उपविभाग 'दीघनिकाय' में संगृहीत कर दिया गया है। जो सुत्त मझले आकार के हैं, उन्हें 'मज्झिमनिकाय' खण्ड में संगृहीतकर दिया गया है। सुत्तपिटक में पाये जानेवाले कुछ छोटे तथा कुछ बड़े सुत्तों को एक उपविभाग में संगृहीतकर उसका नाम 'संयुत्तनिकाय' रख दिया गया है। छोटे-बड़े सभी प्रकार के सुत्तों का संग्रह होने के कारण संयुत्तनिकाय नाम सार्थक ही है।

जिस प्रकार आकार के लिए कोई निश्चित नियम नहीं है, उसी प्रकार गद्यमय या पद्यमय होने का भी कोई निश्चित नियम नहीं है। इसमें जहाँ कुछ सुत्त सर्वथा गद्यमय हैं, कुछ बिल्कुल पद्यमय हैं, तो वहीं कुछ गद्यपद्य-मिश्रित भी हैं।

जैसा कि हम अभी ऊपर कह आये हैं कि सुत्तपिटक के उपविभाग दीघनिकाय में लम्बे-लम्बे सूत्रों का संग्रह किया गया है। मज्झिमनिकाय में मध्यम आकार के सूत्रों का संग्रह उपलब्ध होता है। सुत्तपिटक में इस निकाय का बहुत बड़ा महत्त्व है। महा-पंण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इसे 'बुद्धवचनामृत' कहा है।

संयुत्तनिकाय के प्रायः प्रत्येक सुत्त संक्षिप्त गद्यात्मक बुद्धप्रवचन के रूप में ही हैं। बुद्धकालीन भारतीय ग्राम-जीवन का इस निकाय में बहुत सुन्दर चित्रण मिलता है, साथ ही काव्यात्मक अंश भी उपलब्ध होते हैं।

बुद्धधर्म के स्वरूप का ज्ञान पूर्ववर्ती तीन निकायों में प्राप्त होता है, वही ज्ञान अंगुत्तरनिकाय का भी प्रतिपाद्य विषय है। केवल इसकी शैली में भिन्नता आ गयी है।

खुद्दकनिकाय, सुत्तपिटक का पाँचवाँ मुख्य भाग है। यह निकायसुत्तों का संग्रह नहीं, अपितु छोटे-छोटे ग्रन्थों का स्वतन्त्र संग्रह है। इन ग्रन्थों की भाषा-शैली में समानता नहीं है। कुछ ग्रन्थ पद्यात्मक एवं कुछ ग्रन्थ गद्यपद्यमिश्रित हैं।

धम्मपद—धम्मपद खुद्दकनिकाय का दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें ४२३ गाथाएँ जिनका २६ वर्गों में विभाजन है। ये गाथाएँ बौद्धों में प्रचलित साहित्य से एकत्र की गयी हैं। बौद्ध-साहित्य में धम्मपद का बहुत महत्त्व है। जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य में गीता का कई दृष्टियों से महत्त्व है उसी प्रकार बौद्ध-साहित्य में धम्मपद का। धम्मपद अकेले एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें बौद्ध-दर्शन के प्रायः सभी प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन है। इसमें नैतिक सदाचार, दुःखमय संसार से छुटकारा पाने के उपाय, चार आर्यसत्य, आर्याष्टाङ्गिक मार्ग, निर्वाणप्राप्ति के उपाय आदि का विस्तृत एवं सुबोध वर्णन मिलता है। बौद्धों में इस ग्रन्थ का इतना अधिक महत्त्व है कि सिंहल में तो किसी भिक्षु को तब तक उपसम्पदा नहीं होती जब तक वह धम्मपद का पारायण नहीं कर लेता। सम्पूर्ण पालि-साहित्य में बुद्ध-उपदेशों का संग्रह जितना अच्छा धम्मपद में मिलता है उतना कहीं दूसरे स्थान पर एकत्र नहीं मिलता।

धम्मपद में, भारतीय संस्कृति में प्रचलित प्रायः सभी नैतिक आदर्श संगृहीत हैं। इसका संकेत डॉ० बी० सी० लाहा के 'हिस्ट्री ऑफ पालि लिटरेचर' में मिलता है। डॉ० लाहा ने धम्मपद के अनेक पदों की तुलना उपनिषद्, महाभारत, गीता, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के अंशों से की है।

सुत्तनिपात—धम्मपद के समान ही सुत्तनिपात बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। हिन्दी जगत् में धम्मपद की भाँति सुत्तनिपात का प्रचार नहीं हो सका है। अशोक के बभ्रु शिलालेख में जो सात बुद्धोपदेशों के नाम दिये गये हैं उनमें से तीन सुत्तनिपात में ही मिल जाते हैं।

भाषा की दृष्टि से सुत्तनिपात की भाषा वैदिक भाषा के बहुत समीप है। इसमें ऐसे अनेक प्रयोग मिलेंगे जो लौकिक संस्कृत में छूट गये हैं, किन्तु उनका स्वरूप वैदिक प्रयोगों के समान है। न केवल भाषा की ही दृष्टि से, अपितु छन्दों की दृष्टि से भी यदि

विचार किया जाय तो सुत्तनिपात के अनेक छन्द वैदिक छन्दों के ही समान हैं। वैदिक छन्दों के समान ही इसमें गण का बन्धन भी नहीं है।

विषय-वस्तु की दृष्टि से सुत्त-निपात को पाँच वर्गों में विभक्त किया जाता है— १. उरगवग्ग, जिसमें १२ सुत्त हैं; २. चुल्लवग्ग, जिसमें १४ सुत्त हैं; ३. महावग्ग, जिसमें १२ सुत्त हैं; ४. अट्ठकवग्ग, जिसमें १६ सुत्त हैं; ५. पारायणवग्ग, जिसमें १७ सुत्त हैं।

उरगवग्ग का दूसरा सुत्त धनियसुत्त है। इस सुत्त में सांसारिक सुख से सम्पन्न एक गृहस्थ और ध्यानसुख से सम्पन्न एक विरक्त के संवाद के माध्यम से दोनों सुखों की अत्यन्त सजीव एवं बोधगम्य तुलना की गयी है, जिससे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि सांसारिक सुख एक भूल-भुलैया है, वास्तविक नहीं। जिस विषय-भोग को संसारी जीव सुख का साधन मानता है, वही विषय-भोग वास्तव में उसके सभी दुःखों का कारण है।

थेरगाथा तथा थेरीगाथा—खुद्दकनिकाय के थेरगाथा और थेरीगाथा, ये दोनों ग्रन्थ भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनका महत्त्व इस दृष्टि से भी और बढ़ जाता है कि थेरगाथा में बुद्धकालीन २५५ भिक्षुओं के जीवन-संस्मरण हैं और थेरीगाथा में बुद्ध-कालीन ७३ भिक्षुणियों के जीवन-संस्मरण का संग्रह है। थेरगाथा २१ निपातों में विभक्त है, इसमें १२७९ गाथाएँ है। थेरीगाथा का विभाजन १६ निपातों में हैं, इनमें कुल मिलाकर ५२२ गाथाएँ हैं। थेरीगाथा, थेरगाथा की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण है। थेरगाथा में भिक्षुओं ने अन्तर्जगत् के अनुभवों पर अधिक बल दिया है जब कि थेरीगाथा में भिक्षुणियों ने वैयक्तिक जीवन, आत्मीयता एवं स्पष्टवादिता पर। भिक्षुणियों ने अपनी यथार्थ स्थिति का वर्णन किया है तथा पुरुषों द्वारा किये गये दुर्व्यवहारों का भी वर्णन करने में संकोच नहीं किया है।

जातक—खुद्दकनिकाय का दसवाँ प्रसिद्ध एवं विशालकाय ग्रन्थ जातक है। इसमें भगवान् बुद्ध के बुद्धत्व-प्राप्ति से पूर्व के जन्मों का वर्णक किया गया है। बुद्धत्व-प्राप्ति के पूर्वजन्मों में भगवान् बुद्ध बोधिसत्त्व कहलाते थे। बोधिसत्व का अर्थ बोधि (ज्ञान) के लिए (प्रयत्नशील) सत्त्व (प्राणी) है। बुद्धत्व-प्राप्ति के जन्मों में भगवान् बुद्ध, बुद्धत्वप्राप्ति के लिए दान, शील, मैत्री, सत्य आदि दश पारमिताओं अथवा परिपूर्णताओं का अभ्यास करते थे और जीवों पर दया दिखाने के लिए अनेक बार अपने प्राणों का बलिदान देकर बुद्धत्व-प्राप्ति की योग्यता का सम्पादन करते थे। ये सारे कार्य बोधिसत्त्व के कर्त्तव्य के पालन के रूप में थे। उन-उन जन्मों में उन-उन कर्त्तव्यों के पालन की कथाएँ जातक में संगृहीत हैं।

जातक शब्द जन् (जनी प्रादुर्भावे) धातु से भूत-अर्थ अथवा भाव-अर्थ में क्त प्रत्यय (जन्+क्त (त) करने पर बना है। जब भूत-अर्थ में क्त प्रत्यय होगा, तो उसका अर्थ होगा—जात = भूत = कथा और जब भाव-अर्थ में क्त प्रत्यय होगा तब

जात = जनि = जनन = जन्म । तात्पर्य यह है कि जातक का अर्थ पूर्वजन्म की कथाएँ या पूर्वजन्म होगा । बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद भगवान् बुद्ध ने अपने सम्यग्ज्ञान से पूर्वजन्म के वृत्तान्तों का स्मरण किया और उन्हें भिक्षुओं से कहा, यही जातक कहलाते हैं । इन जातकों का संग्रह विक्रम से तीन सौ वर्ष पूर्व ही हो चुका था । यद्यपि इनकी संख्या निश्चित नहीं है तथापि लंका, बर्मा और थाईलैण्ड में प्रचलित परम्परा के अनुसार इनकी संख्या ५५० है । साथ ही यह भी सत्य है कि वर्तमान जातक में ५४७ या ५४८ जातक कथाएँ हैं । जातकट्ठवण्णनाकार ने जातकों के विषय को दृष्टि में रखकर इनका पाँच भागों में विभाजन किया है—१. पच्चुप्पन्नवत्थु, इसमें बुद्ध के वर्तमानकाल की कथाएँ हैं । २. अतीतवत्थु, इसमें बोधिसत्त्वावस्था में घटी भूतकालिक कथाएँ हैं । ३. गाथा, इसमें गाथाएँ हैं । ४. वेय्याकरण, इसमें गाथाओं का व्याख्यान है । ५. समोधान, इसमें अतीतवत्थु के पात्रों का बुद्ध के जीवनकाल के पात्रों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया है ।

जातकों का अध्ययन न केवल बौद्धधर्म की दृष्टि से तथा न केवल भाषिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है, अपितु बुद्ध के समय के भारत की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, भौगोलिक, व्यापारिक एवं लौकिक विश्वासों की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

विनयपिटक—बौद्धसंघ की दृष्टि से विनयपिटक का अत्यधिक महत्त्व है । भिक्षुसंघ ने सुत्तपिटक से अधिक ऊँचा स्थान विनयपिटक को दिया है, क्योंकि उसे ही बुद्धशासन की इति माना है । जब तक विनयपिटक अपने मूलरूप में अवस्थित रहे तभी तक बुद्धशासन जीवित रह सकता है । बौद्धसंघ की व्यवस्था, भिक्षु और भिक्षुणियों के नित्यनैमित्तिक कृत्य, उपसम्पदानियम, वर्षावास के नियम, भोजन, वस्त्र आदि सम्बन्धी नियम, संघभेद होने पर संघसामग्री सम्पादित करने के नियम आदि नियमसमूह विनयपिटक में वर्णित हैं । इस दृष्टि से विनयपिटक को यदि बौद्धसंघ का संविधान कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी ।

विनयपिटक सुत्तविभंग, खन्धक एवं परिवार नामक तीन मोटे भागों में विभक्त है । सुत्तविभंग के दो भाग—पाराजिक, पाचित्तिय हैं । इनमें क्रमशः उन अपराधों का उल्लेख किया गया है जिनका दण्ड क्रमानुसार संघ से निष्कासन या किसी प्रकार का प्रायश्चित्त है । संख्या में ये अपराध २२७ हैं । ये सभी अपराध-सम्बन्धी नियम आठ वर्गों में विभक्त हैं ।

विनयपिटक का दूसरा भाग खन्धक है, इसके भी दो उपविभाग, महावग्ग और चुल्लवग्ग हैं । सुत्तविभंग में अपराधों का वर्णन है और खन्धक में विधिपूर्वक संघ में जीवन बिताने का । महावग्ग में दस खन्धक हैं । सम्बोधि-प्राप्ति से प्रथम संघ की स्थापना तक पूरा इतिहास भी दिया गया है । अनिरुद्ध, उपालि और आनन्द के संन्यास का वर्णन भी चुल्लवग्ग में हैं । चुल्लवग्ग के अन्त में प्रथम दो बौद्ध संगीतियों के विवरण हैं । वास्तव में न केवल भिक्षुसंघ के इतिहास की दृष्टि से ही, बल्कि छठी

शताब्दी ई० पू० के भारतीय समाज की अवस्था को जानने के लिए भी महावग्ग और चुल्लवग्ग में पर्याप्त सामग्री है।

अभिधम्मपिटक—अभिधम्मपिटक त्रिपिटक साहित्य का तीसरा मुख्य भाग है। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से अभिधम्म का अर्थ विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार से किया गया है। 'अभिधम्म' शब्द का प्रयोग 'अभिविनय' शब्द के साथ क्रमशः धम्म और विनय-सम्बन्धी गम्भीर उपदेश के अर्थ में सुत्तपिटक में हुआ है। ऐसा भान होता है कि बुद्धघोष ने इसी के आधार पर अभिधम्म का अर्थ 'उच्चतर धम्म' या 'विसेस धम्म' किया है।

सुत्तपिटक में निहित बुद्धमन्तव्यों को ही अभिधम्मपिटक में अधिक विस्तार के साथ समझाया गया है। भिक्षु जगदीश काश्यप ने अपना मत अभिधम्मपिटक के विषय में व्यक्त करते हुए कहा है कि 'विभज्यवाद' जिस प्रकार सुत्तन्त का दर्शन है उसी प्रकार वह अभिधम्म का भी दर्शन है। 'विभज्यवाद' का अर्थ है, मानसिक और भौतिक जगत् की सम्पूर्ण अवस्थाओं का विश्लेषण कर चुकने पर भी उनमें 'अत्ता' का न मिलना। इसके लिए काश्यपजी ने 'रथ' का उदाहरण प्रस्तुत किया है। जिस प्रकार पहिये की, धुरी आदि भागों से अलग सत्ता नहीं है उसी प्रकार रूप, वेदना, संज्ञा संस्कार आदि पाँच स्कन्धों से भिन्न पुद्गल की कोई सत्ता नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिधम्मपिटक का मुख्य वर्ण्य-विषय सुत्तन्त पर ही आधृत है। इसमें व्यक्ति के साथ बाह्य संसार के सम्बन्ध की व्याख्या करने के लिए १२ आयतनों का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें सुत्तन्त की भाँति ही स्कन्धों का भी वर्णन पाया जाता है। स्कन्धों के वर्णन में रूप, वेदना और संस्कार स्कन्धों के अङ्गों का भी वर्णन उपलब्ध होता है।

अभिधम्मपिटक का पहला एवं सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'धम्मसंगणि' है। इसके अन्तर्गत मानसिक एवं भौतिक जगत् की अवस्थाओं का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन किया गया है। इसके संकलन की सबसे बड़ी विशेषता है, आभ्यन्तर एवं बाह्य के जगत् की नैतिक व्याख्या। नैतिक व्याख्या का तात्पर्य है, कर्म के शुभ एवं अशुभ तथा इन दोनों से व्यतिरिक्त विपाकों के रूप में व्याख्या।

इन सूक्ष्म विषयों के वर्णन के कारण ही धम्मसंगणि को सम्पूर्ण अभिधम्म साहित्य की प्रतिष्ठा कहा गया है।

'विभंग' अभिधम्मपिटक का द्वितीय ग्रन्थ है। इसमें धम्मसंगणि के ही विस्तृत विश्लेषण को वर्ग-बद्ध किया गया है। अतः इसे धम्मसंगणि का पूरक ग्रन्थ कहा जा सकता है। विभंग का अर्थ है, विस्तृत रूप से विभाजन। इसी अर्थ में यह शब्द 'भद्देकरत्तसुत्तन्त' में प्रयुक्त किया गया है। विभंग की कथावस्तु १८ विभागों या विभंगों में विभक्त की गयी है जिनमें से प्रत्येक अपने आप में पूर्ण है।

विभंग के बाद 'धातुकथा' का नाम आता है। स्कन्ध, आयतन एवं धातु ही धातुकथा के वर्ण्य-विषय हैं। इसी को ध्यान में रखकर महास्थविर ज्ञातिलोक ने

कहा है कि इसका नाम 'खन्ध-आयतन-धातुकथा' होना चाहिए। धातुकथा की सबसे बड़ी विशेषता है स्कन्ध, आयतन एवं धातुओं का सम्बन्ध धर्मों के साथ दिखलाना। इन धर्मों की संख्या मातिका के अनुसार १२५ है।

अभिधम्मपिटक के एक अंग के रूप में 'पुग्गलपञ्ञति' का कम महत्त्व नहीं है। यह दो पदों से मिलकर बना है। वे पद हैं, पुग्गल (पुद्गल) और पञ्ञति (प्रज्ञप्ति)। पुग्गल का अर्थ है व्यक्ति एवं पञ्ञति का अर्थ है, ज्ञान। इस प्रकार पुग्गलपञ्ञति का अर्थ हुआ—व्यक्तियों के सम्बन्ध में ज्ञान। इसका वर्ण्य-विषय नाना प्रकार का व्यक्ति है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में दस अध्याय हैं।

विषय की दृष्टि से अभिधम्मपिटक के एक अंग के रूप में 'कथावत्थु' अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। इस ग्रन्थ में कुछ दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। वे दार्शनिक सिद्धान्त किन-किन सम्प्रदायों से सम्बद्ध थे, इसका उल्लेख इसमें नहीं मिलता। कथावत्थु में २१६ शंका-समाधानों का उल्लेख मिलता है जो २३ अध्यायों में विभक्त हैं।

प्रश्नों के जोड़ों की प्रतिष्ठापना करने के रूप में अभिधम्मपिटक का 'यमक' एक ग्रन्थ है। इसमें प्रश्नों को जोड़ों के रूप में रखा गया है। प्रश्नों के अनुकूल और विपरीत स्वरूपों का जोड़ा बनाना इस ग्रन्थ में आदि से अन्त तक पाया जाता है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, अभिधम्म में प्रयुक्त शब्दावली की निश्चित व्याख्या। 'यमक' दस अध्यायों में विभक्त है। इसमें निर्दिष्ट विषय के साथ धर्मों के सम्बन्ध भी दिखाये गये हैं।

अभिधम्मपिटक में आकार एवं महत्त्व की दृष्टि से 'पट्ठान' का स्थान धम्मसंगणि के बाद ही है। इस पूरे ग्रन्थ में प्रतीत्यसमुत्पाद को समझाया गया है। प्रत्यय के दर्शन का विवेचन इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

अनुपिटक या अनुपालि साहित्य—प्रायः ईसा की तीसरी शताब्दी के पूर्व ही अनेक संगीतियों द्वारा त्रिपिटक के रूप का निश्चय हो चुका था। चौथी, पाँचवीं शताब्दी में बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल ने उन पर अपनी प्रसिद्ध अट्ठकथाएँ लिखीं।

त्रिपिटक के रूप-निर्धारण एवं अट्ठकथाओं के निर्माण के बीच के काल में कुछ ऐसे साहित्य की रचना हुई जिसमें नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस और मिलिन्दपञ्ह अधिक प्रसिद्ध हैं।

नेत्तिपकरण—नेत्तिपकरण का संक्षिप्त नाम नेत्ति भी है, इसे नेत्तिगन्ध (ग्रन्थ) भी कहते हैं। नेत्ति का अर्थ है, मार्गदर्शिका। नेत्तिपकरण का एक प्रकार से त्रिपिटक (बुद्ध-वचनों) से वही सम्बन्ध है जो यास्क-कृत निरुक्त का वेदों से। इसका उद्देश केवल त्रिपिटक के वचनों और उनके तात्पर्य-निर्णयसम्बन्धी नियमों या युक्तियों का शास्त्रीय विवेचन करना मात्र है।

पेटकोपदेस—पेटकोपदेस का उद्देश्य नेत्तिपकरण के उद्देश्य से ही मिलता-जुलता है। नेत्तिपकरण में आयी हुई कुछ दुरूह बातों को यहाँ स्पष्ट रूप से समझाने का प्रयत्न किया गया है। पेटकोपदेस में विषय का विन्यास प्रधानतः चार आर्यसत्यों को दृष्टि में रखकर किया गया है। नेत्तिपकरण और पेटकोपदेस दोनों के रचयिता महाकच्चान ही माने जाते हैं।

मिलिन्दपञ्ह—इस ग्रन्थ के मिलिन्दपञ्ह, मिलिन्दपञ्हो या मिलिन्दपञ्हा—ये तीन नाम मिलते हैं। यह ग्रन्थ अपने युग की सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना है। बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ को त्रिपिटक के समान ही आदरणीय मानकर अट्ठकथाओं में अनेक उद्धरण दिये हैं। मिलिन्द (ग्रीक राजा मिनैण्डर) और भदन्त नागसेन के संवाद के रूप में यह ग्रन्थ लिखा गया है। इस ग्रन्थ में वर्णित संवाद इतिहास-सिद्ध है। इस ग्रन्थ की विषय-वस्तु सात भागों या अध्यायों में विभक्त है। पहला बाहिरकथा, यह इस ग्रन्थ की भूमिका है। दूसरा लक्खण-पञ्हो, जिसमें भदन्त नागसेन ने अनात्मवाद के साथ पुनर्जन्मवाद की संगति मिलाने का प्रयत्न किया है, जो बौद्धदर्शन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तीसरा विमतिच्छेदन-पञ्हो, जिसमें राजा के सन्देहों का, जो उसे अनेक छोटे-छोटे विषयों पर हुए थे, भदन्त नागसेन द्वारा निवारण किया गया है। चौथा मेण्डक-पञ्हो, जिसमें त्रिपिटक में परस्पर विरोधी प्रश्नों के निराकरण का विवरण है। यह परिच्छेद इस ग्रन्थ का सबसे लम्बा परिच्छेद है। पाँचवाँ अनुमानपञ्हो, जिसमें अनुमान के आधार पर अर्थात् भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट धर्म एवं धर्म के अंगरूपी कार्यों को देखकर भगवान् बुद्ध की सत्ता सिद्ध की गयी है। इसी प्रसंग में धम्मनगर (धर्मरूपी नगर) के सुन्दर सांगोपांग रूपक का वर्णन किया गया है। छठा धुतङ्ग-कथा, जिसमें तेरह अवधूत-नियमों का विवेचन करते हुए नागसेन ने यह सिद्ध किया है कि एक गृहस्थ भी, जो सम्पूर्ण भौतिक प्रपञ्चों में फँसा हुआ है, शान्त निर्वाण-पद प्राप्त कर सकता है। सातवाँ ओपम्मकथा-पञ्हो, जिसमें उपमाओं द्वारा यह बतलाया गया है कि अर्हत्त्व का साक्षात्कार करने की इच्छा करनेवाले व्यक्ति को किस प्रकार नाना गुणों का सम्पादन करना चाहिए।

इन तीनों ग्रन्थों के अतिरिक्त 'दीपवंस' आदि कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखे गये।

अट्ठकथाएँ—पालि-साहित्य में अट्ठकथा-साहित्य का आरम्भ चौथी-पाँचवीं शताब्दी से होता है। इस प्रकार बुद्ध-युग से लगभग एक हजार वर्ष बाद ये अट्ठकथाएँ लिखी गयीं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि तीन ही अट्ठकथाकार प्रसिद्ध हैं जिनमें बुद्धदत्त और बुद्धघोष समकालीन हैं।

बुद्धदत्त ने (१) उत्तर-विनिच्छय, (२) विनय-विनिच्छय, (३) अभिधम्मावतार, (४) रूपारूपविभाग और (५) मधुरत्थ-विलासिनी नाम की अट्ठकथाएँ लिखीं।

पालि-साहित्य में साहित्य और बौद्धदर्शन की सेवा की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट आदर

का पात्र यदि कोई एक व्यक्ति है तो वह हैं बुद्धघोष। इन्होंने अकेले पालि-साहित्य की जितनी सेवा और साहित्यिक रचनाएँ कीं, उन्हें देखते हुए वस्तुतः आश्चर्य होता है कि एक ही व्यक्ति ने कैसे इतना महान् कार्य सम्पन्न किया। इन्होंने न केवल मूलग्रन्थों की टीकाएँ लिखीं अपितु अनेक मौलिक रचनाएँ भी कीं। सच पूछा जाय तो यह कहना पड़ता है कि बुद्धघोष ने बुद्ध-वचनों (त्रिपिटक) का दर्शन, जो साधारणतया दुर्गम एवं दुरूह था, सामने लाकर उपस्थित किया। बुद्धघोष की मुख्य रचनाएँ ये हैं—

१. विसुद्धिमग्ग—संयुत्त-निकाय की दो गाथाओं की व्याख्या के रूप में एक मौलिक कृति।
२. समन्तपासादिका—विनयपिटक की अट्ठकथा।
३. कङ्खावितरिणी—पातिमोक्ख की अट्ठकथा।
४. सुमंगलविलासिनी—दीघनिकाय की अट्ठकथा।
५. पपञ्चसूदनी—मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा।
६. सारत्थपकासिनी—संयुत्तनिकाय की अट्ठकथा।
७. मनोरथपूरणी—अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा।
८. परमत्थजोतिका—खुद्दकनिकाय के खुद्दकपाठ और सुत्तनिपात की अट्ठकथा।
९. अट्ठसालिनी—धम्मसंगणि की अट्ठकथा।
१०. सम्मोहविनोदिनी—विभंग की अट्ठकथा।
११–१५. पञ्चप्पकरणट्ठकथा—धम्मसंगणि और विभंग को छोड़कर शेष पाँच अभिधम्म-ग्रन्थों की अट्ठकथाएँ।
१६. जातकट्ठवण्णना—जातक की अट्ठकथा।
१७. धम्मपदट्ठकथा—धम्मपद की अट्ठकथा।
१८. ञानोदय आदि अन्य ग्रन्थ जो प्राप्त नहीं होते।

तीसरे अट्ठकथाकार धम्मपाल हैं। वस्तुतः बुद्धदत्त और धम्मपाल आचार्य बुद्धघोष के ही कार्यों के पूरक के रूप में आते हैं। धम्मपाल की रचनाएँ अधोलिखित हैं—

१. परमत्थदीपनी—खुद्दकनिकाय के उन ग्रन्थों की अट्ठकथा है जिन पर बुद्धघोष ने अट्ठकथा नहीं लिखी। इनकी अट्ठकथाओं में थेरगाथा और थेरीगाथा की अट्ठकथाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि यहाँ लेखक ने भगवान् बुद्ध के शिष्य भिक्षु-भिक्षुणियों की जीवनियों का वर्णन किया है।
२. नेत्तिपकरणट्ठकथा या नेत्तिपकरणस्स अत्थसंवण्णना।
३. नेत्तित्थकथाय टीका या लीनत्थवण्णना—उपर्युक्त नेत्तिपकरण-अट्ठकथा की टीका।
४. परमत्थमञ्जूसा या महाटीका—विसुद्धिमग्ग की अट्ठकथा।
५. लीनत्थपकासिनी—प्रथम चार निकायों की बुद्धघोषकृत अट्ठकथाओं की टीका।

६. जातकट्ठकथा की टीका।

७. बुद्धदत्त-कृत मधुरत्थविलसनी की टीका।

इन तीनों के अतिरिक्त आनन्द, चुल्लधम्मपाल, उपसेन, महानाम आदि अट्ठकथाकार भी हैं, जिनको साहित्य-रचना की दृष्टि से उतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता। किन्तु अभिधम्मत्थसंगहकार आचार्य अनिरुद्ध भी अपनी रचना के कारण अतिप्रसिद्ध हैं। अभिधम्मत्थासंगह में चित्त, चैतसिक धर्मों के निरूपण में जिस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का परिचय ग्रन्थकार ने दिया है, वह न केवल दर्शन के विद्यार्थी के लिए, अपितु मनोविज्ञान के विद्यार्थी की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यही कारण है कि अभिधम्मत्थसंगह में किये गये सूक्ष्म विश्लेषणों को स्पष्ट करने के लिए इस ग्रन्थ की अनेकानेक टीकाएँ, उपटीकाएँ लिखी गयीं।

बुद्धघोष की चलायी गयी परम्परा के आधार पर अनेक अट्ठकथाएँ, टीकाएँ भारतवर्ष, सिंहल और बर्मा देशों में लिखी गयीं और यह कार्य बुद्धघोष के युग से प्रायः आजतक किसी-न-किसी रूप में चलता आ रहा है। बुद्धघोषयुग में ही अट्ठकथाओं और व्याख्यापरक-साहित्य के अतिरिक्त वंश-सम्बन्धी-ग्रन्थ, काव्य और व्याकरण-सम्बन्धी-ग्रन्थ भी पर्याप्त मात्रा में लिखे गये।

वंश-साहित्य—पालि-साहित्य में वंश-साहित्य की परम्परा एक प्रकार से बुद्धघोष के पहले से ही प्रारम्भ होकर उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी तक चलती आयी है। वंश-साहित्य के मुख्य ग्रन्थ ये हैं :—

१. दीपवंस, २. महावंस, ३. चूळवंस, ४. बुद्धघोसुप्पत्ति, ५. सद्धम्मसंगह, ६. महाबोधिवंस, ७. थूपवंस, ८. अत्तनगलुविहारवंस, ९. दाठावंस, १०. छकेसधातुवंस, ११. गन्धवंस और १२. समानवंस आदि।

यद्यपि जिस प्रकार संस्कृत-साहित्य में पुराणेतिहासों की रचना हुई है उसी प्रकार पालि-साहित्य में वंशों की रचना हुई है, तथापि वंशकारों ने भारतीय पुराणकारों की अपेक्षा कुछ अधिक ऐतिहासिक बुद्धि का परिचय दिया है। इन वंशों में निश्चय ही ऐतिहासिक सामग्री अधिक मात्रा में और अधिक स्पष्टरूप में मिलती है। वंश-साहित्य में प्रधानतः राजाओं की वंशावलियों का वर्णन है, यद्यपि महाभारत और पुराणों की तरह इनमें भी वंशावलियों के अतिरिक्त बहुत कुछ है।

काव्य—पालि-भाषा में रचित दर्शन-ग्रन्थों की तुलना में काव्य-ग्रन्थों की रचना अत्यन्त महत्त्वहीन है। संस्कृत भाषा में जो काव्य की परम्परा जिस विपुलता के साथ हजारों वर्षों तक चली और चलती आ रही है, उसकी तुलना में पालि-भाषा के काव्यों को देखने से निराश ही होना पड़ता है। सम्भवतः बौद्ध-दर्शन के, जो अधिकांशतः त्याग का ही उपदेश देता है, तीव्र प्रभाव से प्रभावित भिक्षु या गृहस्थ बौद्धकाव्य लिखने में उतने तत्पर न हो सके। यद्यपि त्रिपिटक आदि में काव्यतत्त्व नहीं मिलते, ऐसा नहीं कह सकते, तथापि वे तत्त्व एक हाथ-लगे की बात हैं। परिचय की दृष्टि से पालि-भाषा में उपलब्ध काव्य ये हैं—

१. अनागतवंस, २. तेलकटाहगाथा, ३. जिनालङ्कार, ४. जिनचरित, ५. पज्जमधु, ६. सद्धम्मोपायन, पञ्चगतिदीपन और ८. लोकप्पदीपसार। यद्यपि पालि-भाषा के काव्यों में सर्वत्र नैतिक आदर्शवाद और नीरस इतिवृत्तात्मक शैली ही अपनायी गयी है तथापि कहीं-कहीं रसात्मकता का भी दर्शन होता ही है। उपर्युक्त काव्यों को विषय की दृष्टि से वर्णनात्मक काव्य-ग्रन्थ हम कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ काव्य-आख्यान-ग्रन्थ गद्य में भी हैं, जैसे--

१. रसवाहिनी, २. बुद्धालंकार, ३. सहस्सवत्थुप्पकरण, ४. राजाधिराजविलासिनी।

व्याकरण—पालि-भाषा में अन्य रचनाओं की तुलना में इस भाषा का व्याकरण बहुत बाद में रचा गया, जो स्वाभाविक है। यद्यपि बुद्धघोष की अट्ठकथा में 'इन्द्रिय' शब्द की दी गयी व्युत्पत्ति को देखकर विद्वानों का ऐसा मत है कि सम्भवतः बुद्धघोष के समक्ष कोई प्राचीन पालि-व्याकरण था, किन्तु बुद्धघोष द्वारा दी गयी व्युत्पत्ति की तुलना जब हम पाणिनि के सूत्र से (पा० ५।२।९३) करते हैं तो पाणिनि का प्रभाव स्पष्ट ज्ञात होता है। जो हो, वर्तमान समय में पालि-भाषा के जो व्याकरण उपलब्ध हैं, वे ये हैं—

१. कच्चान-व्याकरण, २. मोग्गलान-व्याकरण तथा ३. सद्दनीति। इन व्याकरणों के उपकारी साहित्य भी लिखे गये। इन व्याकरणों, उपकारी-साहित्यों, टीकाओं, उपटीकाओं आदि पर संस्कृत-व्याकरणों का और उनमें भी पाणिनि-व्याकरण और कातन्त्र-व्याकरण का प्रभाव स्थान-स्थान पर मिलता है।

इसके परिणामस्वरूप पालि-भाषा की व्याकरणात्मक प्रकृति को समझने के लिए स्थान-स्थान पर संस्कृत भाषा की व्याकरणात्मक प्रकृति का ज्ञान अनिवार्य हो जाता है। कहीं-कहीं तो 'यदि संस्कृत में ऐसा हो, तो पालि में ऐसा समझना' यह प्रवृत्ति दिखायी देती है और इस प्रकार पालिभाषा के व्याकरण को समझने के लिए संस्कृत भाषा के व्याकरण को समझने का एक अतिरिक्त बोझ आ जाने का भय उपस्थित हो जाता है। यह भय गायगर आदि आधुनिक वैयाकरणों को समझने में भी बना रहता है। वस्तुतः पालिभाषा को एक मुक्त तथा स्वतन्त्र इकाई मानकर व्याकरण लिखने का प्रयत्न नहीं हो पाया है।

कच्चान-व्याकरण—उपलब्ध पालि-व्याकरणों में 'कच्चान-व्याकरण' या कच्चायन-गन्ध' या 'सुसन्धिकप्प' सर्वप्राचीन और महत्त्वपूर्ण व्याकरण है। इस व्याकरण के रचयिता महाकच्चायन माने जाते हैं। ये महाकच्चायन बुद्ध के प्रमुख अस्सी शिष्यों में एक थे। इनका समय ईसा की सातवीं शताब्दी, विद्वानों ने माना है। इस व्याकरण में चार कप्प तथा २३ परिच्छेद हैं। सन्धिकप्प, नामकप्प, आख्यातकप्प तथा किब्बिधानकप्प हैं। संज्ञाविधान सन्धिकप्प में ही अन्तर्भूत है। नामकप्प का विभाजन कण्डों (काण्डों) में हुआ है। इसी के अन्तर्गत कारक, समास और तद्धितकप्प भी हैं। उणादिकप्प स्वतन्त्र होते हुए भी किब्बिधानकप्प के अन्तर्गत ही रखा गया है, जो उचित ही है।

कच्चायनसम्प्रदाय के कच्चायन-न्यास अथवा मुखमत्त-दीपनी, सुत्तनिद्देस, सम्बन्ध-चिन्ता, कारिका, सद्दत्थभेदचिन्ता, रूपसिद्धि, बालावतार, सद्दसारत्थजालिनी, कच्चायन-भेद, कच्चायनसार, सद्दबिन्दु, कच्चायनवण्णना, वाचकोपदेस, अभिनवचूलिनिरुत्ति, धातुमञ्जूसा आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। कच्चायन-व्याकरण तथा उस पर उपलब्ध समस्त साहित्य पाणिनीय एवं कातन्त्र-व्याकरण एवं उनमें उपलब्ध साहित्य से पूर्णतः प्रभावित हैं।

मोग्गलान-व्याकरण—मोग्गलान-व्याकरण भी प्रौढ़ता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें ८१७ सूत्र हैं, इसके साथ ही व्याकरणशास्त्र के आवश्यक अंग अर्थात् खिल-पाठ जैसे धातुपाठ, गणपाठ, ण्वादिवृत्ति भी संकलित हैं। इन सूत्रों पर स्वयं मोग्गलान ने ही वुत्ति तथा पञ्चिका लिखी है। इसका रचनाकाल ११५३ ई० से ११८६ ई० माना जाता है। इस व्याकरण पर पाणिनीय, कातन्त्र तथा चान्द्र-व्याकरणों का पर्याप्त प्रभाव है।

इस सम्प्रदाय के पदसाधन, पयोगसिद्धि, मोग्गलानपञ्चिकापदीप आदि अन्य ग्रन्थ भी हैं।

सद्दनीति—श्रीलंका में संस्कृत व्याकरणों में सारस्वत-व्याकरण का अध्ययन मुख्यतः किया जाता है। वहाँ आज भी व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि विषयों के अध्ययन की परम्परा अक्षुण्ण है। श्रीलंकानिवासियों का पालि-व्याकरण की ओर झुकाव भी स्वाभाविक था। कहा जाता है कि बर्मा में रचे गये किसी उत्कृष्ट व्याकरण के सम्बन्ध में जब श्रीलंकानिवासियों ने सुना तो उनमें से कुछ बर्मा आये और देखा कि यहाँ पर सद्दनीति-व्याकरण की रचना हुई है और वह एक उत्कृष्ट पालि-भाषा का व्याकरण है, तो उन्हें आश्चर्य-मिश्रित प्रसन्नता हुई तथा अपने को ही पूर्ण वैयाकरण मानने की उनकी धारणा भी महत्त्वहीन हो गयी। इस सद्दनीतिव्याकरण की रचना बर्मा देश में ११५४ ई० में हुई थी। इसके रचयिता बर्मी भिक्षु अग्गवंस थे जो 'अग्गपण्डित तृतीय' भी कहलाते थे। यह सद्दनीति-व्याकरण यद्यपि मुख्यतः कच्चान-व्याकरण पर आधृत है, तथापि रचयिता ने संस्कृत-व्याकरणों का भी पर्याप्त आश्रय लिया है। निश्चय ही सद्दनीति एक पाण्डित्यपूर्ण व्याकरण है। यह व्याकरण 'पदमाला', 'धातुमाला' और 'सुत्तमाला', इन तीन भागों में विभक्त है। इसके प्रथम अठारह अध्याय 'महासद्दनीति' और शेष नौ अध्याय 'चूळसद्दनीति' कहलाते हैं। इस प्रकार इसमें सत्ताइस अध्याय हैं।

इस व्याकरण के अनुसार हिंगुलबल जिनरतन ने धात्वत्थ-दीपनी नाम की एक पद्यबद्ध धातुसूची का संकलन किया है। जिनरतन भी बर्मी भिक्षु थे।

इन तीनों व्याकरणों के अतिरिक्त अन्य छोटे-मोटे पालि-व्याकरण भी लिखे गये और लिखे जा रहे हैं।

पालिकोश—पालि-साहित्य में मोग्गलानकृत 'अभिधानप्पदीपिका' एवं सद्धम्म-

कित्ति-कृत 'एकक्खरकोस' नाम के दो कोस-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। 'अभिधानप्पदीपिका' अमरसिंह-कृत अमरकोश से पूर्णतः प्रभावित होने के कारण इसका भी काण्ड आदि में विभाजन पाया जाता है। वह कोश तीन काण्डों में विभक्त है—सग्गकण्ड (स्वर्ग-काण्ड), भूकण्ड (भू-काण्ड), सामञ्ञकण्ड (श्रामण्यकाण्ड)।

दूसरा कोश 'एकक्खरकोस' है। संस्कृत-साहित्य में अनेक एकाक्षर कोश मिलते हैं। किसी संस्कृत एकाक्षर-कोश का यह पालि रूपान्तर है। स्वयं सद्धम्मकित्ति ने इसके अन्त में लिखा है "इति सद्धम्मकित्तिनाममहाथेरेन सक्कतभासातो परिवत्तेत्वा विरचितं एकक्खरकोसं नाम सद्दप्पकरणं परिसमत्तं।"

छन्दःशास्त्र—पालि-भाषा में 'वुत्तोदय' (वृत्तोदय) छन्दःशास्त्र का एकमात्र ग्रन्थ है। यह संस्कृत के 'वृत्तरत्नाकर' नामक छन्दोग्रन्थ के आधार पर लिखा गया है। इसकी रचना सिंहली भिक्षु संघरक्खित ने की। इस पर 'वचनत्थजोतिका' नाम की एक टीका भी लिखी गयी। इसके अतिरिक्त 'छन्दोविचिति', 'कविसारप्पकरण', 'कविसारटीकानिस्सय' नामक एकाध और भी ग्रन्थ हैं, जो अप्रसिद्ध हैं।

काव्यशास्त्र—संघरक्खित ने ही पालि काव्यशास्त्र पर 'सुबोधालङ्कार' नाम का एक ग्रन्थ लिखा है।

अभिलेखीय साहित्य—पालि-भाषा एवं उसके साहित्य का अध्ययन वस्तुतः तब तक पूर्ण नहीं माना जा सकता जब तक इस भाषा में निबद्ध विभिन्न कालों और इन कालों एवं देशविशेषों के अनुसार दिनानुदिन विकसित अभिलेखों का अध्ययन नहीं किया जाता। इस भाषा में ई० पूर्व तीसरी शताब्दी से ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी तक लिखे गये अभिलेख मिलते हैं। अशोक के शिलालेख कालक्रम के अनुसार प्रथम और बर्मा के राजा धम्मचेतिय के प्रसिद्ध कल्याणी अभिलेख उसकी अन्तिम सीमा को निश्चित करते हैं। अशोक के शिलालेख, साँची और भरहुत के अभिलेख, सारनाथ के कनिष्ककालीन अभिलेख, मौंगन (बर्मा) के दो स्वर्णपत्र लेख, पेगन के १४४२ ई० के अभिलेख तथा कल्याणी के अभिलेख सर्वप्रसिद्ध हैं। इनमें भी अशोक के शिलालेख सबसे महत्त्वपूर्ण और कालक्रम में सर्वप्रथम आते हैं।

———

पालि-संगहो

१

बोधिसत्त्व-जातकावली

ससजातकम्

अतीते वाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते बोधिसत्तो ससयोनियं निब्बत्तित्वा अरञ्ञे वसति। तस्स पन अरञ्ञस्स एकतो पब्बतपादो, एकतो नदी, एकतो पच्चन्तगामको। अपरे पि'स्स तयो सहाया अहेसुं—मक्कटो, सिंगालो, उद्दो ति। ते चत्तारो पि पण्डिता एकतो वसन्ता अत्तनो अत्तनो गोचरट्ठाने गोचरं गहेत्वा, सायण्हसमये एकतो सन्निपतन्ति। ससपण्डितो 'दानं दातब्बं, सीलं रक्खितब्बं, उपोसथकम्मं कातब्बं'ति तिण्णं जनानं ओवादवसेन धम्मं देसेति। ते तस्स ओवादं सम्पटिच्छित्वा अत्तनो अत्तनो निवासगुम्बं पविसित्वा वसन्ति। एवं काले गच्छन्ते एकदिवसं बोधिसत्तो आकासं ओलोकेत्वा चन्दं दिस्वा 'स्वे उपोसथदिवसो' ति ञत्वा इतरे तयो आह—'स्वे उपोसथो, तुम्हे तयो पि जना सीलं समादियित्वा उपोसथिका होथ, सीले पतिट्ठाय दिन्नदानं महप्फलं होति, तस्मा याचके सम्पत्ते तुम्हेहि खादितब्बाहारतो दत्वा खादेय्याथा' ति। ते 'साधू' ति सम्पटिच्छित्वा अत्तनो वसनट्ठानेसु वसित्वा पुनदिवसे तेसु उद्दो पातो व 'गोचरं परियेसिस्सामी'ति निक्खमित्वा गङ्गातीरं गतो। अथेको बालिसिको सत्त रोहितमच्छे उद्धरित्वा वल्लिया आवुणित्वा नेत्वा गङ्गातीरे बालिकाय पटिच्छादेत्वा मच्छे गण्हन्तो अधो गङ्गं भस्सि। उद्दो मच्छगन्धं घायित्वा वालिकं वियूहित्वा मच्छे दिस्वा नीहरित्वा 'अत्थि नु खो इमेसं सामिको'ति तिक्खत्तुं घोसेत्वा सामिकं अपस्सन्तो वल्लियं डसित्वा अत्तनो वसनगुम्बे ठपेत्वा 'वेलायं एव खादिस्सामी'ति अत्तनो सीलं आवज्जन्तो निपज्जि। सिगालो'पि निक्खमित्वा गोचरं परियेसन्तो एकस्स खेत्तगोपकस्स कुटियं द्वे मंससूलानि एकं गोधं एकञ्च दधिवारकं दिस्वा 'अत्थि नु खो एतस्स सामिको' ति तिक्खत्तुं घोसेत्वा सामिकं अदिस्वा दधिवारकस्स उग्गाहणरज्जुकं गीवाय पवेसेत्वा मंससूले च गोधञ्च मुखेन डसित्वा नेत्वा अत्तनो सयनगुम्बे ठपेत्वा 'वेलायमेव खादिस्सामी'ति अत्तनो सीलं आवज्जन्तो निपज्जि। मक्कटो पि वनसण्डं पविसित्वा अम्बपिण्डिं आहरित्वा वसनगुम्बे ठपेत्वा 'वेलायमेव खादिस्सामी'ति अत्तनो सीलं आवज्जन्तो निपज्जि। बोधि-

सत्तो पन 'वेलायमेव निक्खमित्वा दब्बतिणानि खादिस्सामी'ति अत्तनो गुम्बे येव निपन्नो चिन्तेसि--मम सन्तिकं आगतानं याचकानं तिणानि दातुं न सक्का, तिलतण्डुलादयो पि मय्हं न'त्थि, सचे मे सन्तिकं याचको आगच्छिस्सति अत्तनो सरीरमंसं दस्यामीति। तस्य सीलतेजेन सक्कस्स पण्डुकम्बलसिलासनं उण्हाकारं दस्सेसि। सो आवज्जमानो इमं कारणं दिस्वा। ससराजं वीमंसिस्सामी'ति पठमं उद्दस्स वसनट्ठानं गन्त्वा ब्राह्मणवेसेन अट्ठासि; ब्राह्मण, किमत्थं ठितोसीति वुत्ते पण्डित, सचे किञ्चि आहारं लभेय्यं उपोसथिको हुत्वा समणधम्मं करेय्यं' ति। सो 'साधु दस्सामि ते आहारं' ति तेन सद्धिं सल्लपन्तो पठमं गाथमाह--

सत्त में रोहिता मच्छा उदका थलमुब्भता।
इदं ब्राह्मण मे अत्थि एतं भुत्वा वने वसा'ति॥

ब्राह्मणो 'पातो व ताव होतु, पच्छा जानिस्सामी'ति सिगालस्य सन्तिकं गतो; तेनापि किमत्थं ठितोसी'ति वुत्ते तथेवाह। सिगालो 'साधु दस्सामी'ति तेन सद्धिं सल्लपन्तो दुतियं गाथमाह--

दुस्सं मे खेत्तपालस्स रत्तिभत्तं अपाभत्तं।
मंससूला च द्वे गोधा एकञ्च दधिवारकं।
इदं ब्राह्मण मे अत्थि, एतं भुत्वा वने वसा'ति॥

ब्राह्मणे 'पातो व ताव होतु, पच्छा जानिस्सामी'ति मक्कटस्स सन्तिकं गतो; तेनापि किमत्थं ठितो'सीति वुत्ते तथेवाह। मक्कटो 'साधु दस्सामीति तेन सद्धिं सल्लपन्तो ततियं गाथमाह--

अम्बपक्कोदकं सीतं सीतच्छायं मनोरमं।
इदं ब्राह्मण में अत्थि एतं भुत्वा वने वसा'ति॥

ब्राह्मणो 'पातो व ताव होतु, पच्छा जानिस्सामी'ति ससपण्डितस्स सन्तिकं गतो; तेनापि किमत्थं ठितो'सीति वुत्ते तथेवाह। तं सुत्वा बोधिसत्तो सोमनस्सप्पत्तो 'ब्राह्मण, सुट्ठु ते कतं आहारत्थाय मम सन्तिकं आगच्छन्तेन, अज्जाहं मया अदिन्नपुब्बं दानं दस्सामि, त्वं पन सीलवा पाणातिपातं न करिस्ससि; गच्छ तात, दारूनि संकड्ढित्वा अङ्गारे कत्वा मय्हं आरोचेहि; अहं अत्तानं परिच्चजित्वा अङ्गारगब्भे पतिस्सामि, मम सरीरे पक्के त्वं मंसं खादित्वा समणधम्मं करेय्यासी'ति तेन सद्धिं सल्लपन्तो चतुत्थं गामथाह--

न ससस्स तिला अत्थि न मुग्गा नापि तण्डुला।
इमिना अग्गिना पक्कं ममं भुत्वा वने वसा'ति॥

सक्को तस्स कथं सुत्वा अत्तनो आनुभावेन एकं अङ्गाररासिं मापेत्वा बोधिसत्तस्स आरोचेसि। सो दब्बतिणसयनतो उट्ठाय तत्थ गन्त्वा 'सचे मे लोमन्तरेस पाणका अत्थि ते मा मरिसू'ति वत्वा तिक्खत्तुं सरीरं विधूनित्वा

सकसरीरं दानमुखे दत्वा लङ्घित्वा पदुमपुञ्जे राजहंसो विय पमुदितचित्तो अङ्गाररासिम्हि पति। सो पन अग्गि बोधिसत्तस्स सरीरे लोमकूपमत्तं पि उण्हं कातुं नासक्खि, हिमगब्भं पविट्ठो विय अहोसि। अथ सक्कं आमन्तेत्वा 'ब्राह्मण, तया कतो अग्गि अतिसीतलो, मम सरीरे लोमकूपमत्तं पि उण्ह कातुं न सक्कोति किं नाम एतं' ति आह। 'पण्डित, नाहं ब्राह्मणो, सक्को अहमस्मि, तव वीमंसनत्थाय आगतो' ति। 'सक्क, त्वं ताव तिट्ठ, सकलो पि चे लोकसन्निवासो मं दानेन वीमंसेय्य' नेव मे अदातुकामतं पस्सेय्या' ति बोधिसत्तो सीहनादं नदि। अथ नं सक्को 'ससपण्डित, तव गुणो सकलकप्पं पाकटो होतू' ति पब्बतं पीळेत्वा पब्बतरसं आदाय चन्दमण्डले ससलक्खणं आलिखित्वा बोधिसत्तं आमन्तेत्वा तस्मिं वनसण्डे तस्मिं येव वनगुम्बे तरुणदब्बतिणपिट्ठे निपज्जापेत्वा अत्तनो देवट्ठानमेव गतो। ते पि चत्तारो पण्डिता सम्मोदमाना सीलं पूरेत्वा उपोसथकम्मं कत्वा यथाकम्मं गता।

संस्कृत अनुवाद

अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्त्वः शशयोन्यां निर्वृत्य अरण्ये वसति। तस्य पुनः अरण्यस्यैकतः पर्वतपादः एकतः नदी एकतः प्रत्यन्तग्रामकः। अपरेऽप्यस्य त्रयः सहायाः अभूवन् मर्कटः शृगालः उद्र इति। ते चत्वारोऽपि पण्डिताः एकतः वसन्तः आत्मनः आत्मनः गोचरस्थाने गोचरं गृहीत्वा सायाह्नसमये एकतः सन्निपतन्ति। शशपण्डितः दानं दातव्यं, शीलं रक्षितव्यमुपवसथकर्मकर्तव्यमिति त्रीन् जनान् अववादवशेन धर्मं दिशति। ते तस्याववादं सम्प्रतीष्यात्मनः आत्मनः निवासनगुल्मं प्रविश्य वसन्ति। एवं काले गच्छति एकस्मिन् दिवसे बोधिसत्त्वः आकाशमवलोक्य चन्द्रं दृष्ट्वा श्वः उपवसथदिवस इति ज्ञात्वा इतरान् त्रीन् आह—'श्वः उपवसथः यूयम् त्रयोऽपि जनाः शीलं समादायोपवसथिकाः भवत, शीले प्रतिष्ठाय दत्तदानं महाफलं भवति। तस्माद् याचके सम्प्राप्ते युष्माभिः खादितव्याहारतः दत्त्वा खादेत।' ते 'साधु' इति सम्प्रतीष्यात्मः वसनस्थानेपूषित्वा पुनर्दिवसे तेषूद्रः प्रातरेव गोचरं पर्येषिष्यामि इति निष्क्रम्य गङ्गातीरं गतः। अथैकः बाडिशिकः सप्त रोहितमत्स्यानुद्धृत्य वल्ल्याप्य नीत्वा गङ्गातीरे बालुकायां प्रतिच्छाद्य मत्स्यान् गृह्णान्तोऽधो गङ्गायामभाङ्क्षीत्। उद्रः मत्स्यगन्धं घ्रात्वा बालुकां व्यूह्य मत्स्यान् दृष्ट्वा निर्हृत्य अस्ति ननु खलु एतेषां स्वामिक इति त्रिःकृत्वं घोषयित्वा स्वामिकमपश्यन् वल्ल्यां दष्ट्वा आत्मनो वसनगुल्मे स्थापयित्वा वेलायामेव खादिष्यामीति आत्मनः शीलमावर्जयन् न्यपादि। शृगालोऽपि निष्क्रम्य गोचरं परीष्यन् एकस्य क्षेत्रगोपकस्य कुट्यां द्वौ मांसशूलौ एकां गोधामेकञ्च दधिवारकं दृष्ट्वास्ति ननु खल्वेतस्य स्वामिक इति त्रिःकृत्वं घोषयित्वा स्वामिकमदृष्ट्वा दधिवारकस्य उद्ग्राहरज्जुकं ग्रीवायां प्रवेश्य मांसशूलञ्च गोधाञ्च मुखेन नीत्वात्मनः शयनगुल्मे स्थापयित्वा वेलायामेव खादिष्यामीति आत्मनः शीलमावर्जयन् न्यपादि। मर्कटोऽपि वनषण्डं प्रविश्याम्रपिण्डिमाहार्य वसनगुल्मे स्थापयित्वा वेलाया-

मेव खादिष्यामि इत्यात्मनः शीलमावर्जयन् न्यपादि । बोधिसत्त्वः पुनः वेलायामेव दर्भतृणानि खादिष्यामीत्यात्मनो गुल्मे एव निपन्नः अचीचिन्तत्—ममान्तिकमागतेभ्यः याचकेभ्यः तृणानि दातुं न शक्यम्, तिलतण्डुलादयोऽपि मम न सन्ति, चेत् ममांतिकं याचकः आगमिष्यत्यात्मनः शरीरमांसं दास्यामीति । तस्य शीलतेजसा शक्रस्य पांडु-कम्बलशिलासनमुष्णाकारमदर्शि । स आवर्जयन् इदं कारणं दृष्ट्वा शशराजं मीमांसिष्ये इति प्रथममुद्रस्य वसनस्थानं गत्वा ब्राह्मणवेशेनास्थात्, 'ब्राह्मण ! किमर्थं स्थितोऽसि' इत्युक्ते 'पण्डित ! चेद् आहारं लभे (अलप्स्यम्) उपवसथिको भूत्वा श्रमणधर्मं कुर्याम् (अकरिष्यम्)' इति । स 'साधु' दास्यामि ते आहारमिति तेन सध्रीङ् संल्लपन् प्रथमां गाथामाह—

सप्त मे रोहिताः मत्स्याः उदकात् स्थलमुद्भृताः ।
इदं ब्राह्मण ! मे अस्ति एतद् भुक्त्वा वने वस इति ॥

ब्राह्मणः 'प्रातरेव तावद् भवतु, पश्चाद् ज्ञास्यामी'ति श्रृगालस्यान्तिकं गतः, तेनापि किमर्थं स्थितोऽसीत्युक्ते तथैवाह । श्रृगालः 'साधु' दास्यामीति तेन सध्रीङ् संल्लपन् द्वितीयां गाथामाह—

दूष्य मे क्षेत्रपालस्य रात्रिभक्तमपाभृतम् ।
मांसशूलाश्च द्वे गोधे एकश्च दधिवारकम् ।
इदं ब्राह्मण ! मे अस्त्येतद् भुक्त्वा वने वस इति ॥

ब्राह्मणः 'प्रातरेव तावद् भवतु, पश्चाद् ज्ञास्यामी'ति मर्कटस्यान्तिकं गतः, तेनापि किमर्थं स्थितोऽसीत्युक्ते तथैवाह । मर्कटः 'साधु' दास्यामीति तेन सध्रीङ् संल्लपन् तृतीयां गाथामाह—

आम्रपक्वौदकं शीतं शीतच्छायं मनोरमम् ।
इदं ब्राह्मण ! मे अस्तीदं वने भुक्त्वा वने वस इति ॥

ब्राह्मणः 'प्रातरेव तावद् भवतु, पश्चाद् ज्ञास्यामी'ति शशपण्डितस्यान्तिकं गतः, तेनापि किमर्थं स्थितोऽसीत्युक्ते तथैवाह—तच्छ्रुत्वा बोधिसत्त्वः सौमनस्यप्राप्तः (प्राप्त-सौमनस्य) 'ब्राह्मण ! सुष्ठु त्वया कृतमाहारार्थाय ममान्तिकमागच्छता, अद्याहं ममादत्तपूर्वं दानं दास्यामि, त्वं पुनः शीलवान्, प्राणातिपातं न करिष्यसि, गच्छ, तात ! दारूणि संकर्ष्याङ्गारे कृत्वा मह्यमारोचय, अहमात्मानं परित्यज्याङ्गारगर्भे पतिष्यामि, मम शरीरे पक्के सति त्वं मांसं खादित्वा श्रमणधर्मं करिष्यसी'ति तेन सध्रीङ् संल्लपन् चतुर्थीं गाथामाह—

न शशस्य तिलाः सन्ति न मुद्गाः नापि तण्डुलाः ।
अनेनाग्निना पक्कं मम भुक्त्वा वने वस इति ॥

शक्रः तस्य कथां श्रुत्वात्मनोऽनुभावेनैकमङ्गारराशिमापयित्वा बोधिसत्त्व-मारूरुचत् । स दर्भतृणशयनतः उत्थाय तत्र गत्वा चेन्मे लोमान्तरेषु प्राणकाः सन्ति ते मा मृषत इत्युक्त्वा त्रिःकृत्वं शरीरं विधूय स्वकशरीरं दानमुखं दत्त्वा लङ्घयित्वा

पद्मपुञ्जे राजहंस इव प्रमुदितचित्तः अङ्गारराशौ पतित्वा स पुनरग्निः बोधिसत्वस्य शरीरे लोमकूपमात्रमप्युष्णं कर्तुं नाशकत्। हिमगर्भं प्रविष्ट इव अभूत्। अथ शक्रमामन्त्र्य 'ब्राह्मण! त्वया कृतोऽग्निः अतिशीतल। मम शरीरे रोमकूपमात्रमपि उष्णं कर्तुं न शक्नोति किं नाम एतदित्याह। 'पण्डित! नाहं ब्राह्मणः शक्रोऽहमस्मि तव मीमांसनार्थायागत इति। 'शक्र! त्वं तावत् तिष्ठ सकलोऽपि चेत् लोकसन्निवासः मां दानेन मीमांसेथाः नैव मे अदातुकामतां पश्येरिति' बोधिसत्वः सिंहनादमनादीत्। अथ नूनं शक्रः 'शशपण्डित! तव गुणः सकलकल्पं प्रकटः भवत्विति पर्वतं पीडयित्वा पर्वतरसमादाय चन्द्रमन्डले शशलक्षणमालिख्य बोधिसत्वमामन्त्र्य तस्मिन् वनषण्डे तस्मिन्नेव वनगुल्मे तरुणदर्भतृणपृष्ठे निपद्यात्मनो देवस्थानमेव गतः। तेऽपि चत्वारः पण्डिताः सम्मोदमानाः शीलं पूरयित्वोपवसथकर्म कृत्वा यथाकर्म गताः।

हिन्दी अनुवाद

अतीतकाल में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के शासनकाल में बोधिसत्व शशयोनि में उत्पन्न होकर अरण्य में निवास करते थे। उस जंगल के एक ओर पर्वत, एक ओर नदी तथा एक ओर गाँव था। बन्दर, शृंगाल तथा उद्र इनके सहायक हुए। वे चारों पण्डित एक स्थान पर रहते हुए भी अपने-अपने शिकार करने के स्थल से शिकार (जीव) लेकर सायंकाल एक स्थान पर एकत्र होते थे। दान देना चाहिए, शील की रक्षा करनी चाहिए, उपवसथ-कर्म करना चाहिए, इस प्रकार की धर्म की शिक्षा शश-पण्डित तीनों जीवों को दिया करते थे। वे उनके उपदेश को स्वीकार कर अपने-अपने रहने की झुरमुटों में प्रविष्ट हो निवास करते थे। इस प्रकार समय बीतने पर एक दिन बोधिसत्त्व ने आकाश में चन्द्रमा को देखकर कल उपवसथ दिन है, ऐसा जानकर अन्य तीनों से कहा—'कल उपवसथ है, तुम तीनों भी शील धारण कर उपवसथ करनेवाले बनो। शील में प्रतिष्ठित होकर दिया गया दान महाफलवाला होता है। इसलिए याचकों के उपस्थित होने पर आप लोग भोज्यपदार्थ को देकर खायें।' 'उन लोगों ने 'साधु' ऐसा स्वीकार कर अपने-अपने निवासस्थान पर निवास किया। दूसरे दिन उद्र प्रातःकाल ही 'गोचर का अन्वेषण करूँगा' ऐसा सोचकर, निकलकर गङ्गातीर पर चला गया। कोई (व्यक्ति) सात रोहू मछलियों को निकालकर, वल्ली से पकड़कर, गङ्गा के किनारे बालू में छिपाकर, (अन्य) मछलियों को पकड़ता हुआ गङ्गा में धँस गया। उद्र ने मत्स्य-गन्ध को सूँघकर, बालू को हटाकर मछलियों को देखा, (उन्हें) निकालकर 'इनका कोई स्वामी है' ऐसा तीन बार घोषित कर स्वामी को न देखता हुआ बल्ली में दबाकर अपने निवास के झुरमुट में स्थापित कर 'समय पर ही खाऊँगा' ऐसा सोचकर अपने शील का आवर्जन (सेवा) करता हुआ पड़ गया। शृगाल भी निकलकर एक क्षेत्र-रक्षक की कुटी में दो मांसशूल, एक गोह तथा एक तक्रभाण्ड को देखकर 'इसका (कोई) स्वामी है' इस प्रकार तीन-तीन बार घोषणा करके स्वामी को न देखकर तक्रभाण्ड को लेकर अपने शयनगृह में स्थापित कर 'समय पर ही खाऊँगा' ऐसा अपने शील का आवर्जन

करता हुआ पड़ गया। वन्दर भी वनखण्ड में प्रविष्ट हो आम्रपिण्ड को लेकर निवास-स्थान पर स्थापित कर 'समय पर ही खाऊँगा' ऐसा अपने शील का आवर्जन करता हुआ पड़ गया। बोधिसत्त्व, 'उपवसथ-वेला में कुशतृणों को ही खाऊँगा' ऐसा निश्चय कर अपने झुरमुट में पड़े हुए ही सोचने लगे—'अपने पास आये हुए याचकों को कुशतृणों को नहीं दिया जा सकता है, (पुनः) मेरे पास तिल-तण्डुल आदि भी नहीं है, (अतः) यदि मेरे पास याचक आयेगा तो अपने शरीर के मांस को दे दूँगा, उनके शील के तेज से इन्द्र ने अपने पाण्डुकम्बल शिलासन को प्रतप्त देखा। वह इस कारण को देखकर 'शशराज की मीमांसा करूँगा' ऐसा सोचकर पहले उद्र के निवासस्थान पर ब्राह्मण-वेश में जाकर स्थित हो गया। 'हे ब्राह्मण, किसलिए स्थित हो' ऐसा कहने पर (ब्राह्मण ने कहा) 'हे पण्डित! यदि कुछ आहार पा जाऊँ तो उपवसथिक होकर श्रमण-धर्म का पालन करूँ।' उसने 'साधु' कहकर 'तुम्हें आहार दूँगा' (ऐसा स्वीकार कर) उसके साथ संल्लाप करता हुआ पहली गाथा कही—

'जल से निकालकर स्थल पर रखी गयी मेरे पास सात रोहू मछलियाँ हैं। हे ब्राह्मण! यही मेरे पास है, इसको खाकर वन में निवास करो।'

'अच्छा, बाद में ज्ञान प्राप्त करूँगा' ऐसा सोचकर ब्राह्मण प्रातः ही शृगाल के पास गये—उसके भी 'किस लिए स्थित हो' ऐसा कहने पर इसी प्रकार कहा। सियार ने, 'साधु, दूँगा' ऐसा कहकर उसके साथ संल्लाप करता हुआ दूसरी गाथा कही—

'ब्राह्मण, मेरे पास क्षेत्रपाल के वस्त्र, रात्रि का भोजन मांसशूल, दो गोह तथा एक तक्रभाण्ड, जिन्हें चुरा लाया गया है, इन्हें खाकर आप वन में निवास करें।'

'अच्छा, बाद में जानकारी प्राप्त करूँगा' ऐसा सोचकर ब्राह्मण प्रातः ही मर्कट के पास गया, 'किसलिए स्थित हो' ऐसा उसके भी कहने पर (उसने) उसी प्रकार कहा। 'साधु, दूँगा' ऐसा सोचकर, मर्कट ने उसके साथ संल्लाप करता हुआ, तीसरी गाथा कही—

'हे ब्राह्मण! मनोरम, शीतल छायावाले (वृक्ष), शीतल जल तथा पका हुआ आम यही मेरे पास है। इसे खाकर वन में निवास करो।' अच्छा, 'बाद में जानूँगा' ऐसा सोचकर ब्राह्मण प्रातः ही शशपंडित के पास गया, 'किसलिए स्थित हो' ऐसा उसके कहने पर उसी प्रकार कहा। उसे सुनकर प्रसन्न हो बोधिसत्त्व ने (कहा)—'हे ब्राह्मण! आहार के लिए यहाँ आकर तुमने ठीक किया, आज मैं अपने पहले न दिये गये दान को दूँगा, तुम शीलवान् हो, मुकरोगे नहीं। हे तात! जाओ लकड़ी को खींचकर अग्नि में डालकर मुझे बताओ, मैं अपने (प्राणों) को छोड़कर अग्नि के बीच गिर जाऊँगा। मेरे शरीर के पक जाने पर तुम मांस को खाकर श्रमणधर्म करना, ऐसा सोचकर उसके साथ संल्लाप करता हुआ चौथी गाथा कही—

शश के पास न तिल हैं, न मूंग हैं, न तण्डुल ही हैं।

अग्नि में पके हुए (मेरे इस मांस) को खाकर वन में निवास करो।'

शक्र ने उस कथा को सुनकर अपने अनुभाव से एक अङ्गार-राशि को लाकर बोधिसत्त्व से कहा। वह दर्भतृण-शयन से उठकर वहाँ जाकर, 'यदि रोमों के बीच मेरे प्राण रह जायँगे तो वे नहीं मरेंगे' ऐसा कहकर, तीन बार शरीर को हिलाकर अपने शरीर को दान के लिए देकर, लाँघकर पद्मसमूह के बीच राजहंस की भाँति, प्रसन्नचित्त हो अङ्गार-राशि में गिर गया। वह अग्नि बोधिसत्त्व के शरीर के रोमकूपों को भी उष्ण करने में समर्थ नहीं हुआ, ऐसा मालूम पड़ने लगा कि हिम के भीतर घुसे हों। वे शक्र का सम्बोधन कर बोले, 'हे ब्राह्मण! तुम्हारी लगायी हुई आग अत्यन्त शीतल है, मेरे शरीर में रोम-कूप तक को भी गरम नहीं कर सकती। इन (प्राणों) का क्या!— 'हे पण्डित! मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, मैं शक्र हूँ, तुम्हारी मीमांसा के लिए यहाँ आया था।' 'हे इन्द्र, तुम तब तक रुको, (तुम) सकल लोक के निवासस्थान हो, यदि मेरी मीमांसा दान के द्वारा करना चाहते हो तो मुझे कुछ भी देने में संकोच नहीं है, ऐसा जानो।' इस प्रकार बोधिसत्त्व ने सिंहनाद किया (स्पष्ट कहा)।

तदनन्तर हे शश-पण्डित! तुम्हारा गुण सम्पूर्ण कल्पों में प्रकट होवे, ऐसा कह-कर पर्वत को निचोड़कर पर्वत-रस को लेकर चन्द्रमण्डल में शशलक्षण को लिखकर बोधिसत्त्व को आमन्त्रित कर उस वनखण्ड में उसी वन के झुरमुट में बढ़े हुए दर्भ-तृणपृष्ठ पर गिरकर अपने देवस्थान को ही चले गये। वे चारों पण्डित भी प्रसन्न हुए तथा शील को पूर्ण करके, उपवसथ-कर्म करके यथाकर्म चले गये।

———

बावेरुजातकम्

अतीते वाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते बोधिसत्तो मोरयोनियं निब्बत्तित्वा बुद्धिं अन्वाय सोभग्गप्पत्तो अरञ्ञे विचरि। तदा एकच्चे वाणिजा दिसाकाकं गहेत्वा नावाय बावेरुरट्ठं अगमंसु। तस्मिं किर काले बावेरुरट्ठे सकुणा नाम नत्थि। आगतागता रट्ठवासिनो तं कूपग्गे निसिन्नं दिस्वा पस्सथि'मस्स छविवण्णं गलपरियोसानं मुखतुण्डकं मणिगुळसदिसानि अक्खीनीति। काकं एव पसंसित्वा ते वाणिजके आहंसु, 'इमं अय्यो सकुणं अम्हाकं देथ, अम्हाकं हि इमिना अत्थो, तुम्हे अत्तनो रट्ठे अञ्ञं लभिस्सथा' ति। 'तेन हि मूलेन गण्हथा'ति। 'कहापणेन नो देथा'ति। 'न देमा'ति। अनुपुब्बेन वड्ढेत्वा 'सतेन देथा'ति वुत्ते 'अम्हाकं एस बहूपकारो, तुम्हेहि पन सद्धिं मेत्ती होतू'ति कहापणसतं गहेत्वा अदंसु। ते तं गहेत्वा सुवण्णपञ्जरे पक्खिपित्वा नानप्पकारेन मच्छमंसेन चे'व फलाफलेन च पटिजग्गिंस। अञ्ञेसं सकुणानं अविज्जमानट्ठाने दसहि असद्धम्मेहि समन्नागतो काको लाभग्गयसग्गपत्तो अहोसि। पुनवारे ते वाणिजा एकं मयूरराजानं गहेत्वा यथा अच्छरासद्देन वस्सति पाणिप्पहारसद्देन नच्चति एवं सिक्खापेत्वा बावेरुरट्ठं अगमंसु। सो महाजने सन्निपतिते नावाय धुरे ठत्वा पक्खे विधूनित्वा मधुरस्सरं निच्छारेत्वा नच्चि। मनुस्सा तं दिस्वा सोमनस्सजाता—'एतं अय्यो सोभग्गप्पत्तं सुसिक्खितसकुणराजानं अम्हाकं देथा' ति आहंसु। 'अम्हेहि पठमं काको आनीतो, तं गण्हित्थ' इदानि एतं मोरराजानं आनायिम्ह, एतम्पि याचथ। तुम्हाकं रट्ठे सकुणं नाम गहेत्वा आगन्तुं न सक्का' ति। 'होतु अय्यो, अत्तनो रट्ठे अञ्ञं लभिस्सथ, इमं नो देथा' ति मूलं वड्ढेत्वा सहस्सेन गण्हिंसु। अथ नं सत्तरतनविचित्ते पञ्जरे ठपेत्वा मच्छमंसफलाफलेहि चे'व मधुलाजासक्खरापानकादीहि च पटिजग्गिंसु। मयूरराजा लाभग्गयसग्गपत्तो जातो। तस्सागतकालतो पट्ठाय काकस्स लाभसक्कारो परिहायि, कोचि नं आलोकितुं पि न इच्छि। काको खादनीयभोजनीयं अलभमानो 'काका'ति वस्सन्तो गन्त्वा उक्कारभूमियं ओतरि।

अदस्सनेन मोरस्स सिखिनो मञ्जुभाणिनो।
काकं तत्थ अपूजेसुं मंसेन च फलेन च॥
यदा च सरसम्पन्नो मोरो बावेरुमागमा।
अथ लाभो च सक्कारो वायसस्स अहायथ॥
याव नु'प्पज्जति बुद्धो धम्मराजा पभंकरो।
ताव अञ्ञे अपूजेसुं पुथू समणब्राह्मणे॥

यदा च सरसम्पन्नो बुद्धो धम्मं अदेसयि।
अथ लाभो च सक्कारो तित्थियानं अहायथा' ति॥

संस्कृत अनुवाद

अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्त्वः मयूरयोन्यां निर्वृत्य बुद्धिमन्वित्य सौभाग्यप्राप्तःअरण्ये व्यचारीत्। तदैकत्याः वणिजः दिक्काकं गृहीत्वा नावा बावेरुराष्ट्रमगमन्। तस्मिन् किल काले बावेरुराष्ट्रे शकुनाः नाम न सन्ति। आगताः राष्ट्रवासिनः तं कूपाग्रे निषण्णं दृष्ट्वा 'पश्यतास्य छविवर्णं गलपर्यवसानं मुखतुण्डकं मणिगुलसदृशेऽक्षिणीति काकमेवं प्रशंस्य ते वणिजः अवोचन्— 'इदमार्यः शकुनमस्मभ्यं ददातु। अस्माकं ह्यनेनार्थः यूयमात्मनः राष्ट्रे अन्यम् लप्स्यध्वे। तेन हि मूल्येन गृह्णीत इति। कार्षापणेन नो दत्तेति। न दद्म इति। आनुपूर्व्येण वर्धयित्वा शतेन दत्तेत्युक्तेऽस्माकमेष बहूपकारः। युष्माभिः पुनःसार्धं मैत्री भवत्विति' कार्षापणशतं गृहीत्वादुः। ते तं गृहीत्वा सुवर्णपञ्जरे प्रक्षिप्य नानाप्रकारेण मत्स्यमांसेन चैव फलाफलेन च प्रत्यग्रहीषुः। अन्येषां शकुनानामविद्यमानस्थाने दशभिरसद्धर्मैः समन्वागतः काकः लाभाग्रयशोग्रप्राप्तोऽभूत्। पुनर्वारं ते वणिजः एकं मयूरराजं गृहीत्वा यथाक्षरशब्देन वाश्यते, पाणिप्रहारशब्देन नृत्यत्येवं शिक्षयित्वा बावेरुराष्ट्रमगमन्। स महाजने सन्निपतिते, नावा धुरि स्थित्वा पक्षौ विधूय मधुरस्वरं निस्सार्य अनर्तीत्। मनुष्याः तं दृष्ट्वा सौमनस्यजाताः—'एनमार्याः! प्राप्तसौभाग्यं सुशिक्षितं शकुनराजमस्मभ्यं दत्तेत्यवोचन्। अस्माभिः प्रथमं काकः आनीतः तमग्रहीष्टेदानीमेतं मयूरराजमानैषिष्म एनमपि याचथ। युष्माकं राष्ट्रे शकुनं नाम गृहीत्वागन्तुं न शक्यम्। भवत्वार्यः आत्मनः राष्ट्रे अन्यं लप्स्यते, इमं नो ददातु।' मूल्यं वर्धयित्वा सहस्रेणाग्रहीषुः। अथैनं सप्तरत्नविचित्रे पञ्जरे स्थापयित्वा मत्स्यमांसफलाफलैश्चैव मधुलाजाशर्करापानकादिभिश्च प्रत्यग्रहीषुः। मयूरराजः लाभाग्रयशोग्रप्राप्तो जातः। तस्यागतकालतः प्रस्थाय काकस्य लाभसत्कारः पर्यहायि। कश्चिदप्येनमवलोकयितुमपि नैषीत्। काकः खादनीयं भोजनीयमलभमानः काकेति वाश्यमानो गत्वोत्कारभूमौ अवातरीत्।

अदर्शनेन मयूरस्य शिखिनो मञ्जुभाषिणः।
काकं तत्रापूपुजन् मांसेन च फलेन च॥
यदा च स्वरसम्पन्नः मयूरो बावेरुमागमत्।
अथ लाभश्च सत्कारो वायसस्याहायि॥
यावन्नोत्पद्यते बुद्धो धर्मराजः प्रभाकरः।
तावदन्येऽपूज्यन्त पृथक् श्रमणब्राह्मणाः॥
यदा च स्वरसम्पन्नः बुद्धो धर्ममदिक्षत्।
अथ लाभश्च सत्कारः तैर्थिकानामहायि॥

हिन्दी अनुवाद

अतीत काल में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के शासन-काल में बोधिसत्व मयूरयोनि में निवृत्त होकर, बुद्धि तथा सौभाग्य प्राप्तकर जंगल में विचरण कर रहे थे। कुछ बनिये दिशा-काक को लेकर नाव से बावेरुराष्ट्र गये। उस समय बावेरुराष्ट्र में कोई पक्षी नहीं था। आते-जाते हुए राष्ट्रवासी, कूप पर बैठे हुए उसको देखकर इसके वर्णछवि, गले तक फैले हुए चोंच एवं मणि के सदृश आँखों को देखो। इस प्रकार काक की प्रशंसा कर उन लोगों ने बनियों से कहा—'हे आर्य, इस पक्षी को हमलोगों को दे दें। हमलोगों को इससे तात्पर्य है। आप लोग अपने राष्ट्र में दूसरा प्राप्त कर लीजियेगा। इसलिए मूल्य ले लीजिये। एक कार्षापण में इसे हमें दे दीजिये। 'नहीं देंगे।' (इस प्रकार) क्रमशः (मूल्य) बढ़ाकर (कहा) सौ (कार्षापण) में दे दीजिये। हमलोगों का यह बहुत उपकार होगा तथा आपलोगों के साथ मित्रता हो जायगी।' सौ कार्षापण लेकर (उसे) दे दिया। वे उसे लेकर सुवर्ण-पञ्जर में डालकर नाना प्रकार के मत्स्यमांस, फलाफल द्वारा उसका सत्कार करने लगे। अन्य पक्षियों के अभाव में दश असद्धर्मों से युक्त कौआ लाभ एवं यश प्राप्त करने लगा। दूसरे दिन वे बनिये एक मयूर-राजको 'जिससे अक्षर कहने पर बोले, हथेली के प्रहार के शब्द से नृत्य करे' ऐसा सिखाकर बावेरुराष्ट्र लाये। वह महाजनों के एकत्र होने पर नाव की धुरी पर स्थित हो पंखों को फैलाकर, मधुर स्वर निकालकर नाचने लगा। उसे देखकर मनुष्य प्रसन्न हो गये। 'आर्य! सौभाग्यशाली सुशिक्षित इस पक्षिराज को हमें दे दें',' ऐसा कहा। 'हम पहले कौआ लाये, उसे ले लिया, इस समय मयूरराज को लाये इसको भी माँग रहे हो। आप लोगों के राष्ट्र में पक्षी लेकर नहीं आया जा सकता।' 'हे आर्य! अपने राष्ट्र में दूसरा (पक्षी) प्राप्त कर लीजियेगा, इसे हमें दे दें।' (इस प्रकार) मूल्य बढ़ाकर हजार (कार्षापण) से ले लिया। इसे सात रत्नों से बने विचित्र पिंजरे में स्थापित करके मत्स्यमांस, फलाफल, मधु, शक्कर, पानक आदि से इसका सत्कार करने लगे। मयूरराज लाभ एवं यश प्राप्त करने लगे। उसके आने के समय से कौए का लाभ एवं सत्कार बन्द हो गया। कोई इसे देखना भी नहीं चाहता था। कौआ भोजन आदि न प्राप्त करता हुआ 'काँव-काँव' ऐसा कहता हुआ जाकर उच्चार (शौचालय) भूमि में उतर गया।

मञ्जुभाषी मयूर के अदर्शन से मांस एवं फल द्वारा कौआ पूजा जाता था। जब स्वरसम्पन्न मयूर बावेरु आया तब कौए का लाभ-सत्कार त्याग दिया गया। जब तक धर्मराज प्रभाकर बुद्ध उत्पन्न नहीं हुए तब तक अन्य श्रमण ब्राह्मण पूजे जाते थे। जब स्वर-सम्पन्न बुद्ध ने धर्म का उपदेश दिया तब तैर्थिकों का लाभ-सत्कार त्याग दिया गया।

जवसकुणजातकम्

अतीते वाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते बोधिसत्तो हिमवन्तप्पदेसे रुक्खकोट्ठकसकुणो हुत्वा निब्बत्ति। अथेकस्स सीहस्स मंसं खादन्तस्स अट्ठि गले लग्गि, गलो उद्धुमाथि, गोचरं गण्हितुं न सक्कोति, खरा वेदना वत्तन्ति। अथ नं सो सकुणो, गोचरपसुतो दिस्वा साखाय निलीनो 'किन्ते दुक्खं' ति पुच्छि। सो तं अत्थं आचिक्खि। 'अहं ते सम्म एतं अट्ठिं अपनेय्यं, भयेन पन ते मुखं पविसितुं न विसहामि, खादेय्यासि पि मं' ति। 'मा भायि सम्म, नाहं तं खादामि जीवितं मे देही' ति। सो 'साधू' ति तं पस्सेन निपज्जापेत्वा 'को जानाति किं पे'स करिस्सती'ति चिन्तेत्वा यथा मुखं पिदहितुं न सक्कोति तथा तस्स अधरोट्ठे च उत्तरोट्ठे च दण्डकं ठपेत्वा मुखं पविसित्वा अट्ठिकोटिं तुण्डेन पहरि। अट्ठि पतित्वा गतं। सो अट्ठि पातेत्वा सीहस्स मुखतो निक्खमन्तो दण्डकं तुण्डेन पहरित्वा पातेन्तो निक्खमित्वा साखग्गे निलीयि। सीहो नीरोगो हुत्वा एकदिवसं वनमहिसं वधित्वा खादति। सकुणो 'वीमंसिस्सामि नं' ति तस्स उपरिभागे साखाय निलीयित्वा तेन सद्धिं सल्लपन्तो पठमं गाथमाह--

अकरम्हसे ते किच्चं यं बलं अहुवम्हसे।
मिगराज नमो त्यत्थु अपि किञ्चि लभामसे॥

तं सुत्वा सीहो दुतियं गाथमाह--

मम लोहितभक्खस्स निच्चं लुद्दानि कुब्बतो।
दन्तान्तरगतो सन्तो तं बहुं यं हि जीवसीति॥

तं सुत्वा सकुणो इतरा द्वे गाथा अभासि--

अकतञ्ञुं अकत्तारं कतस्स अप्पतिकारकं।
यस्मिं कतञ्ञुता न'त्थि निरत्था तस्स सेवना॥
यस्स सम्मुखचिण्णेन मित्तधम्मो न लब्भति।
अनुसुय्यं अनक्कोसं सणिकं तम्हा अपक्कमे'ति॥

एवं वत्वा सो सकुणो पक्कामि।

संस्कृत अनुवाद

अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्त्वः हिमवत्प्रदेशे वृक्षकोष्ठक-शकुनो भूत्वा न्यवर्त्तिष्ट। अथैकस्य सिंहस्य मांसं खादतोऽस्थित् गलेऽलगीत्, गलमुद्-ध्मायि, गोचरं ग्रहीतुं न शक्नोति, खराः वेदनाः वर्त्तन्ते। अथैनं स शकुनः गोचर-प्रसृतः दृष्ट्वा शाखायां निलीनः 'किन्ते दुःखमि'त्यप्राक्षीत्। स तदर्थमाख्यत्। अहम्-

तव सौम्य ! एतदस्थ्यपनयेयं, भयेन पुनः ते मुखंप्रवेष्टुं न विषहे, खादेः अपि मामिति । मा भैषीः सौम्य ! नाहं त्वां खादामि । जीवितं मे देहीति । साधु, इति तं पार्श्वेन निप्रज्ञाप्य कः जानाति किमपि स करिष्यतीति चिन्तयित्वा यथा मुखं पिदधातुं न शक्नोति तथा तस्याधरोष्ठे चोत्तरोष्ठे च दण्डकं स्थापयित्वा मुखं प्रविश्यास्थिकोटिं तुण्डेनापाहार्षीत् । अस्थि पतित्वा गतम् । स अस्थि पातयित्वा सिंहस्य मुखतो निष्क्राम्यन् दण्डकं तुण्डेन प्रहृत्य पातयन् निष्क्रम्य शाखाग्रे न्यलेष्ट । सिंहो नीरोगो भूत्वैकदिवसे वनमहिषं हत्वा खादति । शकुनो, मीमांसिष्ये एनमिति तस्योपरिभागे शाखायां निलीय तेन सधीङ् संल्लपन् प्रथमां गाथामाह—

अकार्षं ते कृत्यं यद्बलमभूवम् ।
मृगराज ! नमस्तेऽस्तु—अपि किञ्चिद् लभामहे ॥

तच्छ्रुत्वा सिंहः द्वितीयां गाथामाह—

मम लोहितभक्ष्यस्य नित्यं रुद्राणि कुर्वतः ।
दन्तान्तर्गतः सन् तद् बहु यद्धि जीवसि ॥

तच्छ्रुत्वा शकुनः इतरे द्वे गाथे अभाषिष्ट—

अकृतज्ञमकर्त्तारं कृतस्याप्रतिकारकम् ।
यस्मिन् कृतज्ञता नास्ति निरर्था तस्य सेवना ॥
यस्य सम्मुखचीर्णेन मित्रधर्मो न लभ्यते ।
अनसूयमनाक्रोशं शनकैः तस्मादपक्रमेद् इति ॥

एवमुक्त्वा स शकुनः प्राक्रमीत् ।

हिन्दी अनुवाद

भूतकाल में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के शासन-काल में बोधिसत्त्व हिमवत्प्रदेश में वृक्षकोष्ठक के शकुन होकर उत्पन्न हुए। कभी मांस को खाते हुए (किसी) सिंह के गले में अस्थि लग गयी, गला रुँध गया, (वह) जीवों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हो रहा था, (उसे) तीव्र वेदना उत्पन्न हो रही थी। जीवों से हटे हुए उसे देखकर शाखाओं के बीच में छिपे हुए उस शकुन ने पूछा—'क्या कष्ट है?, उसने वह बात कही। 'मैं तुम्हारी इस हड्डी को निकालूँगा, परन्तु भय के कारण तुम्हारे मुख में प्रविष्ट होने की हिम्मत नहीं कर रहा हूँ, मुझको भी खा लोगे।' 'हे सौम्य ! डरो मत, मैं तुम्हें नहीं खाऊँगा। मुझे जीवन दो।' अच्छा, ऐसा कहकर समीप से उसे जानकर, कौन जानता है, वह कुछ भी कर देगा, ऐसा सोचकर, जिससे कि वह मुख न बन्द कर सके, उसके अधर एवं ओष्ठ पर दण्ड रखकर मुख में प्रविष्ट हो उसने अस्थि के अग्र-भाग को तुण्ड से गिरा दिया। अस्थि गिर गयी। अस्थि को गिराकर, डण्डे को चोंच से गिराकर सिंह के मुख से निकलकर शाखा में वह छिप गया। सिंह नीरोग होकर एक दिन वनमहिष को मारकर खा रहा था। इससे मीमांसा करूँगा, ऐसा सोचकर वृक्ष की शाखा पर छिपकर शकुन ने उसके साथ संकल्प करते हुए प्रथम गाथा कही—

'शक्ति के अनुकूल मैंने तेरा कार्य किया। हे मृगराज ! तुम्हें नमस्कार है—क्या (मैं भी) कुछ प्राप्त करूँ ?' वह सुनकर सिंह ने द्वितीय गाथा कही—

'रक्तपान करनेवाले एवं भयंकर कर्म करनेवाले मेरे दाँतों के भीतर आनेवाला जो जी पाये वही बहुत है।' यह सुनकर शकुन ने अन्य दो गाथाएँ कहीं—

'अकृतज्ञ, अकर्ता एवं किये हुए का प्रतीकार करनेवाले जिस व्यक्ति में कृतज्ञता नहीं है, उसकी सेवा करना व्यर्थ है। स्पष्ट चरितवाले को जिस (उपकृत व्यक्ति) से मित्रधर्म की प्राप्ति (निर्वाह) (की आशा) न हो उससे असूयारहित और आक्रोशरहित धीरे से दूर हट जाना चाहिए।

यह कहकर वह शकुन चला गया।

सुप्पारकजातकम्

अतीते भरुरटठे भरुराजा नाम रज्जं कारेसि। भरुकच्छं नाम पट्टनगामो आहोसि। तदा बोधिसत्तो भरुकच्छे निय्यामकजेट्ठस्स पुत्तो हुत्वा निब्बत्ति पासादिको सुवण्णवण्णो। सुप्पारककुमारो ति'स्स नामं करिंसु। सो महन्तेन परिवारेन वड्ढन्तो सोळसवस्सकाले येव निय्यामकसिप्पे निप्फत्तिं पत्वा अपरभागे पितु अच्चयेन निय्यामकजेट्ठको हुत्वा निय्यामककम्मं अकासि। पण्डितो ञाणसम्पन्नो अहोसि, तेन आरूळ्हनावाय व्यापत्ति नाम न'त्थि। तस्स अपरभागे लोणजलपहटानि द्वे पि चक्खूनि नस्सिंसु। सो ततो पट्ठाय निय्यामकजेट्ठको हुत्वापि निय्यामकम्मं अकत्वा 'राजानं निस्साय जीविस्सामी'ति राजानं उपसंकमि। अथ नं राजा अग्घापनियकम्मे ठपेसि। ततो पट्ठाय रञ्ञो हत्थिरतनं अस्सरतनं मुत्तसारमणिसारादीनि अग्घापेति। अथेकदिवसं रञ्ञो मङ्गलहत्थी भविस्सतीति काळपासाणकूटवण्णं एकं वारणं आनेसुं। तं दिस्वा राजा 'पण्डितस्स दस्सेथा' ति आह। अथ नं तस्स सन्तिकं नयिंसु। सो हत्थेन तस्स सरीरं परिमद्दित्वा नायं मङ्गलहत्थी भवितुं अनुच्छविको, पच्छावामनकधातुको एस, एतं हि माता विजायमाना अंसेन पटिच्छितुं नासक्खि। तस्मा भूमियं पतित्वा पच्छिमपादेहि वामनकधातुको जातो' ति आह। हत्थिं गहेत्वा आगते पुच्छिंसु। ते 'सच्चं पण्डितो कथेती' ति वदिंसु। तं कारणं राजा सुत्वा तुट्ठो तस्स अट्ठ कहापणे दापेसि। पुनेकदिवसं। रञ्ञो मङ्गल'स्सो भविस्सतीति एकं अस्सं आनयिंसु। तम्पि राजा पण्डितस्स सन्तिकं पेसेसि। सो हत्थेन परामसित्वा 'अयं मङ्गल'स्सो भवितुं न युत्तो, एतस्स हि जातदिवसे येव माता मरि, तस्मा मातुखीरं अलभन्तो न सम्मा वड्ढितो' ति आह। सा'पि स्स कथा सच्चा'व अहोसि। तम्पि सुत्वा राजा तुस्सित्वा अट्ठे'व कहापणे दापेसि। अथे'कदिवसं 'मङ्गलरथो भविस्सती'ति रथं आहरिंसु। तम्पि राजा तस्स सन्तिकं पेसेसि। सो तं हत्थेन परामसित्वा 'अयं रथो सुसिररुक्खेन कतो, तस्मा रञ्ञो नानुच्छविको' ति आह। सापि'स्स कथा सच्चा'व अहोसि। राजा तम्पि सुत्वा अट्ठे'व कहापणे दापेसि। अथ'स्स कम्बलरतनं महग्घं आनयिंसु। तम्पि तस्से'व पेसेसि। सो हत्थेन परामसित्वा 'इमस्स मूसिकच्छिन्नं एकं ठानं अत्थीति आह। सोधेन्ता तं दिस्वा रञ्ञो आरोचेसुं। राजा तुस्सित्वा अट्ठेव कहापणे दापेसि। सो चिन्तेसि— अयं राजा एवरूपानि पि अच्छरियानि दस्वा अट्ठे'व कहापणे दापेसि, इमस्स दायो नहापितदायो, नहापितस्स जातको भविस्सति, किं मे एवरूपेन राजुपट्ठानेन 'अत्तनो वसनट्ठानमेव गमिस्सामी'ति सो भरुकच्छपट्टनमेव पच्चागमि।

तस्मिं तत्थ वसन्ते वाणिजा नावं सज्जेत्वा 'कं निय्यामकं करिस्सामा' ति मन्तेन्ता 'सुप्पारकपण्डितेन आरूळ्हनावा न व्यापज्जति, एस पण्डितो उपायकुसलो, अन्धो समानो पि सुप्पारकपण्डितो' व उत्तमो' ति तं उपसंकमित्वा 'निय्यामको नो होही' ति वत्वा, तात, अहं अन्धो, कथं निय्यामककम्मं करिस्सामीति वुत्ते 'सामि, अन्धापि तुम्हे येव अम्हाकं उत्तमो' ति पुनप्पुन याचियमानो 'साधु तात, तुम्हेहि आरोचितसञ्ञाय निय्यामको भविस्सामी' ति तेसं नावं अभिरूहि। ते नावाय महासमुद्दं पक्खन्दिंसु। नावा सत्त दिवसानि निरुपद्दवा अगमासि, ततो अकालवातं उप्पज्जि, नावा चत्तारो मासे पकतिसमुद्दपिट्ठे विचरित्वा खुरमालसमुद्दं नाम पत्ता, तत्थ मच्छा मनुस्ससमानसरीरा खुरनासा उदके उम्मुज्जनिमुज्जं करोन्ति। वाणिजा ते दिस्वा महासत्तं तस्स समुद्दस्स नामं पुच्छन्ता पठमं गाथमाहंसु—

उम्मुज्जन्ति निमुज्जन्ति मनुस्सा खुरनासिका।
सुप्पारकं तं पुच्छाम समुद्दो कतमो अयं' ति॥

एवं तेहि पुट्ठो महासत्तो अत्तनो निय्यामकसुत्तेन संसन्देत्वा दुतियं गाथमाह—

भरुकच्छा पयातानं वाणिजानं धनेसिनं।
नावाय विप्पनट्ठाय खुरमालीति वुच्चती'ति॥

तस्मिं पन समुद्दे वजिरं उप्पज्जति। महासत्तो 'स चा'हं अयं वजिरसमुद्दो' ति एवं एतेसं कथेस्सामि लोभेन बहुं वजिरं गण्हित्वा नावं ओसीदापेस्सन्ती' ति तेसं अनाचिक्खित्वा' व नावं लग्गापेत्वा उपायेने'कं योत्तं गहेत्वा मच्छगहणनियामेन जालं खिपापेत्वा वजिरसारं उद्धरित्वा नावाय पक्खिपित्वा अञ्ञं अप्पग्घभण्डं छड्डापेसि। नावा तं समुद्दं अतिक्कमित्वा परतो अग्गिमालं नाम गता। सो पज्जलितअग्गिक्खन्धो विय मज्झन्तिकसुरियो विय च ओभासं मुञ्चन्तो अट्ठासि। वाणिजा।

'यथा अग्गीव सुरियो'व समुद्दो पतिदिस्सति।
सुप्पारकं तं पुच्छाम समुद्दो कतमो अयं' ति॥

गाथाय तं पुच्छिंसु। महासत्ता पि तेसं अनन्तरगाथाय कथेसि—भरुकच्छा पयातानं—पे—अग्गिमालीति वुच्चतीति॥ तस्मिं पन समुद्दे सुवण्णं उस्सन्नं अहोसि। महासत्तो पुरिमनयेनेव ततो पि सुवण्णं गाहापेत्वा नावाय पक्खिपि। नावा तम्पि समुद्दं अतिक्कमित्वा खीरं विय दधिं विय च ओभासन्तं दधिमालं नाम समुद्दं पापुणि। वाणिजा

'यथा दधिं व खीरं व समुद्दो पतिदिस्सति—पे—'गाथाय तस्स नामं पुच्छिंसु। महासत्तो अनन्तरगाथाय आचिक्खि—

'भरुकच्छा पयातानं-पे-दधिमालीति वुच्चती'ति॥

अस्मिं पन समुद्दे रजतं उस्सन्नं। सो तम्पि उपायेन गाहापेत्वा नावाय पक्खिपापेसि। नावा तम्पि समुद्दं अतिक्कमित्वा नीलकुसतिणं विय सम्पन्नसस्सं इव च ओभासमानं नीलवण्णं कुसमालं नाम समुद्दं पापुणि। वाणिजा

'यथा कुसो' व सस्सो' व समुद्दो पतिदिस्सति--पे--'

गाथाय तस्य पि नामं पुच्छिंसु। सो अनन्तरगाथाय आचिक्खि--

'भरुकच्छा पयातानं--पे--कुसमालीति वुच्चती'ति ॥

तस्मिं पन समुद्दे नीलमणिरतनं उस्सन्नं अहोसि। सो तम्पि उपायेन गाहापेत्वा नावाय पक्खिपापेसि। नावा तम्पि समुद्दं अतिक्कमित्वा नलवनं विय च वेळुवनं विय च खायमानं नलमालं नाम समुद्दं पापुणि। वाणिजा

'यथा नलो व वेळुं व समुद्दो पतिदिस्सति--पे--'

गाथाय तस्स पि नामं पुच्छिंसु। महासत्तो अनन्तरगाथाय कथेसि--

'भरुकच्छा पयातानं--पे--नलमालीति वुच्चती'ति॥ अस्मिं पन समुद्दे वंसरागवेळुरियं उस्सन्नं, सो तम्पि गाहापेत्वा नावाय पक्खिपापेसि। वाणिजा नलमालिं अतिक्कमन्ता बळवामुखसमुद्दं नाम पस्सिंसु। तत्थ उदकं कड्ढित्वा कड्ढित्वा सब्बतोभागेन उग्गच्छति। तस्मिं सब्बतोभागेन उग्गतोदकं सब्बतोभागेन छिन्नतटमहासोब्भो विय पञ्ञायति, ऊमिया उग्गताय एकतो पपातसदिसं होति, भयजननो सद्दो उप्पज्जति सोतानि भिन्दन्तो विय हदयं फालेन्तो विय। तं दिस्वा वाणिजा भीततसिता

'महाभयो भिंसनको सद्दो सुय्यत'मानुसो।

यथा सोब्भो पपातो च समुद्दो पतिदिस्सति--पे--'

गाथाय तस्स नामं पुच्छिंसु।

'भरुकच्छा पयातानं--पे--वळभामुखीति वुच्चती'ति ॥

बोधिसत्तो अनन्तरगाथाय तस्स नामं आचिक्खित्वा ताता, इमं वलभामुखं समुद्दं पत्ता निवत्तितं समत्था नावा नाम न'त्थि। अयं सम्पत्तनावं निमुज्जापेत्वा विनासं पापेतीति आह। तञ्च नावं सत्तमनुस्ससतानि अभिरुहिंसु, ते सब्बे मरणभयभीता एकप्पहारेनेव अवीचिम्हि पच्चमाना सत्ता विय अतिकरुणसरं मुञ्चिंसु। महासत्तो 'ठपेत्वा मं अञ्ञो एतेसं सोत्थिभावं कातुं समत्थो नाम न'त्थि, सच्चकिरियाय तेसं सोत्थिं करिस्सामीति चिन्तेत्वा ते आमन्तेत्वा ताता, मं खिप्पं गन्धोदकेन नहापेत्वा अहतवत्थानि नियासापेत्वा पुण्णपातिं सज्जेत्वा नावाय धुरे ठपेथा'ति। ते वेगेन तथा करिंसु। महासत्तो उभोहि हत्थेहि पुण्णपातिं गहेत्वा नावाय धुरे ठितो सच्चकिरियं करोन्तो ओसान गाथमाह—

यतो सरामि अत्तानं यतो पत्तो'स्मि विञ्ञुतं।
नाभिजानामि संचिच्च एकपाणम्पि हिंसितं।
एतेन सच्चवज्जेन सोत्थिं नावा निवत्ततू'ति।

चत्तारो मासे विदेसं पक्खन्ता नावा निवत्तित्वा इद्धिमा विय इद्धानुभावेन एकदिवसेने'व भरुकच्छपट्टनं अगमासि, गन्त्वा च पन थलेपि अट्ठूसभमत्तं ठानं पक्खंदित्वा नाविकस्स घरद्वारे अट्ठासि। महासत्तो तेसं वाणिजानं सुवण्ण-रजतमणिप्पवालवजिरानि भाजेत्वा अदासि, 'एत्तकेहि वो रतनेहि अलं, मा पुन समुद्दं पविसित्था' ति च तेसं ओवादं दत्वा यावजीवं दानादीनि पुञ्ञानि कत्वा देवपुरं पूरेसि।

संस्कृत अनुवाद

अतीते भरुराष्ट्रे भरुराज इति नाम राज्यमकार्षीत्। भरुकच्छमिति नामा पत्तनग्रामः अभूत्। तदा बोधिसत्व भरुकच्छे निर्यामकज्येष्ठस्य पुत्रो भूत्वा न्यवर्त्तिष्ट प्रासादिकः सुवर्णवर्णः। शूर्पारककुमार इत्यस्य नामाकार्षुः। स महता परिवारेण वर्ध-मानः षोडशवर्षकाले एव निर्यामकशिल्पे निष्पत्तिं प्राप्यापरभागे पितुरत्ययेन निर्यामक-ज्येष्ठको भूत्वा निर्यामककर्माकार्षीत्। पण्डितः ज्ञानसम्पन्नोऽभूत्। तेन आरूढनावि (सति) व्यापत्तिः नाम नास्ति। तस्यापरभागे लवणजलप्रहते द्वे अपि चक्षुष्यनशताम्। स ततः प्रस्थाय निर्यामकज्येष्ठको भूत्वापि निर्यामककर्माकृत्वा राजानं निःश्रित्य जीविष्यामीति राजानमुपसमक्रमीत्। अथैनं राजार्घापणीयकर्मण्यतिष्ठिपत्। ततः प्रस्थाय राज्ञः हस्तिरत्नमश्वरत्नं मुक्तासारमणिसारादीन्यर्घापयति। अथैकदिवसे राज्ञः मङ्गलहस्ती भविष्यतीति कालपाषाणकूटवर्णमेकं वारणमानैषिषुः। तं दृष्ट्वा राजा 'पण्डितं दर्शयत' इत्याह। अथैनं तस्यान्तिकमनैषिषुः। स हस्तेन तस्य शरीरं परिमृद्य नायं मङ्गलहस्ती भवितुमानुच्छविकः, पश्चाद् वामनकधातुक एष, एतं हि माता विजायमानांसेन प्रतीक्षितुं नाशकत्। तस्माद् भूमौ पतित्वा पश्चिमपादैः वामनकधातुकः जात इत्याह। हस्तिनं गृहीत्वागतानप्राक्षुः—ते 'सत्यं पण्डितः कथयती'त्यवादिषुः। तत्कारणं राजा श्रुत्वा तुष्टः तस्मायष्टौ कार्षापणानदीदपत्। पुनरेकदिवसे राज्ञः मङ्गलाश्व भविष्यतीति एकमश्वमानैषिषुः। तमपि राजा पण्डितस्यान्तिकं प्रैषीत्। स हस्तेन परामृश्यायं मङ्गलाश्वः भवितुं न युक्तः। एतस्य हि जातदिवसे एव मातामरिष्ट, तस्मात् मातुः क्षीरमलभमानः न सम्यग् वर्द्धित इत्याह। साप्यस्य कथा सत्यैवाभूत्। तामपि श्रुत्वा राजा संतुष्ट्वाष्टावेव कार्षापणानदीदपत्। अथैकदिवसे मङ्गलरथः भविष्य-तीति रथमाहार्षिषुः। तमपि राजा तस्य अन्तिकं प्रैषीत्। स तं हस्तेन परामृश्यायं रथः सुषिरवृक्षेण कृतः, तस्मात राज्ञः नानुच्छविक इत्याह। साप्यस्य कथा सत्यैवा-भूत्। राजा तामपि श्रुत्वाष्टावेव कार्षापणानदीदपत्। अथास्य कम्बलरत्नं महार्घ-मानैषुः। तमपि तस्यैव प्रैषीत्। स हस्तेन परामृश्य अस्य मूषिकच्छिन्नमेकं स्थान-मस्तीत्याह। शोधयन्तः तं दृष्ट्वा राजानमारूरुचन्। राजा तुष्टाष्ट्वावेव कार्षापणान् अदीदपत्। सोऽचिचिन्तत्—अयं राजैवंरूपाण्यप्याश्चर्याणि दृष्ट्वाष्टावेव कार्षापणा-नदीदपत्। अस्य दायः स्नापितदायः। स्नापितस्य दायो भविष्यतीति किं मे एवं रूपेण राजोपस्थानेन, आत्मनो वासस्थानमेव गमिष्यामीति स भरुकच्छपत्तनमेव

प्रत्यागमत्। तस्मिन् तत्र वसति वणिजः नावं सज्जयित्वा कं निर्यामकं करिष्याम इति मंत्रयन्तः शूर्पारकपण्डितेन आरूढाः नावो न व्यापद्यन्ते, एष पण्डितः उपाय-कुशलः, अन्धः समानोऽपि पण्डितशूर्पारक एवोत्तमः इति। तमुपसंक्रम्य निर्यामको नो भवेत्युक्त्वा, तात, अहमन्धः कथं निर्यामककर्म करिष्यामीत्युक्ते स्वामिन्! अन्धोऽपि त्वमेवास्माकमुत्तमः इति। पुनः पुनः याच्यमानः साधु तात! युष्माभिः आरोचितसंशया निर्यामकः भविष्यामीति तेषां नावं अभ्यरुहत् ते नावा महासमुद्रं प्रास्कन्दिषुः। नौः सप्त दिवसानि निरुपद्रवा अगमत्।

ततोऽकालवातः उदपादि, नावा चतुरो मासान् प्रकृतिसमुद्रपृष्ठे विचर्य क्षुरमाल-समुद्रं नाम प्राप्ताः, तत्र मत्स्याः मनुष्यसमानशरीराः क्षुरनासिकाः उदके उन्मज्जन-निमज्जने कुर्वन्ति। वणिजः तान् दृष्ट्वा महासत्त्वं तस्य समुद्रस्य नाम पृच्छन्तः प्रथमां गाथामवोचन्—

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति मनुष्याः क्षुरनासिकाः।
शूर्पारक! त्वां पृच्छामः समुद्रः कतमोऽयमिति॥

एवं तैः पृष्टः महासत्त्वः आत्मनः निर्यामकसूत्रेण संस्यन्द्य द्वितीयां गाथामाह—

भरुकच्छात्प्रयातानां वणिजां धनैषिणाम्।
नावः विप्रणष्टाय क्षुरमालीत्युच्यते इति॥

तस्मिन् पुनः समुद्रे वज्रमुत्पद्यते। महासत्त्वः चेदहमयं वज्रसमुद्रः इत्येवमेतेषां कथयिष्यामि लोभेन बहूनि वज्राणि गृहीत्वा नावमवसादयिष्यन्तीति तेषामनाख्या-यैव नावं लागयित्वोपायेनैकं योक्त्रं गृहीत्वा मत्स्यग्रहणनियमेन जालं क्षिप्त्वा वज्रसारमुद्धृत्य नावि प्रक्षिप्यान्यमल्पार्घं भाण्डमचच्छर्दत्। नावा तं समुद्रमतिक्रम्य परतोऽग्निमालं नाम गताः। स प्रज्वलिताग्निस्कन्ध इव मध्याह्निकसूर्य इव चावभासं मुञ्चन्नस्थात्। वणिजः—

यथाग्निरिव सूर्य इव समुद्रः प्रतिदृश्यते।
शूर्पारकं त्वां पृच्छामः समुद्रः कतमोऽयम्॥ इति

गाथाया तमप्राक्षुः। महासत्त्वोऽपि तेषामनन्तरगाथया अचकथत् 'भरुकच्छात् प्रयातानां—अग्निमालीत्युच्यते'। तस्मिन् पुनः समुद्रे सुवर्णमुत्सन्नभूत्। महासत्त्वः पूर्वनयेनैव ततोऽपि सुवर्णं ग्राहयित्वा नावि प्राक्षैप्सीत्। नावा तमपि समुद्रमति-क्रम्य क्षीरमिव दधि इवावभासमानं दधिमालं नाम समुद्रं प्रापन्। वणिजः—

'यथा दधीव क्षीरमिव समुद्रः प्रतिदृश्यते……'आदिगाथया तस्य नामाप्राक्षुः। महासत्त्वः अनन्तरगाथयाख्यत्—

'भरुकच्छात् प्रयातानां……दधिमालीत्युच्यते' इति।

अस्मिन् पुनः समुद्रे रजतमुत्सन्नम्। स तदप्युपायेन ग्राहयित्वा नावि प्राचिक्षि-पत्। नावा तमपि समुद्रमतिक्रम्य नीलकुशतृणमिव सम्पन्नशस्यमिव चावभासमानं नीलवर्णं कुसुमालं नाम समुद्रं प्रापन्। वणिजः—

यथा कुश इव शस्यमिव समुद्रः प्रतिदृश्यते'……'गाथयातस्यापि नामाप्राक्षुः। स अनन्तरगाथयाख्यत्—

'भरुकच्छात् प्रयातानां……कुसुमालीत्युच्यते'।

तस्मिन् पुनः समुद्रे नीलमणिरत्नमुत्सन्नमभूत्। स तदप्युपायेन ग्राहयित्वा नावि प्राचिक्षिपत्। नावा तमपि समुद्रमतिक्रम्य नलवनमिव च वेणुवनमिव च ख्यायमानं नलमालं नाम समुद्रं प्रापन्। वणिजः—

'यथा नल इव वेणुरिव समुद्रः प्रतिदृश्यते……गाथया तस्यापि नामाप्राक्षुः। महासत्त्वोऽनन्तरगाथया अचकथत्—

'भरुकच्छात्प्रयातानां—नलमालीत्युच्यते' इति।

तस्मिन् पुनः समुद्रे वंशरागवैदूर्यम् उत्सन्नं, स तदपि ग्राहयित्वा नावि प्राचिक्षिपत्। वणिजः नलमालिमतिक्रमन्तः वडवामुखसमुद्रं नाम अद्राक्षिषुः, तत्रोदकं कृष्ट्वा कृष्ट्वा सर्वतोभागेनोद्गच्छति, तस्मिन् सर्वतोभागेनोद्गतोदकं सर्वतोभागेन छिन्नतटमहाश्वभ्र इव प्रज्ञायते, ऊर्म्यामुद्गतायामेकतः प्रपातसदृशं भवति, भयजननः शब्दोत्पद्यते श्रोत्राणि भिन्दन्निव, हृदयं स्फालयन्निव तं दृष्ट्वा वणिजः भीतत्रस्ताः—

'महाभयो भीषणकः शब्दः श्रूयतेऽमानुषः
यथा श्वभ्रः प्रपातश्च समुद्रः प्रतिदृश्यते'……'गाथया तस्य नामाप्राक्षुः।

'भरुकच्छात्प्रयातानां' 'वडवामुख इत्युच्यते' इति। बोधिसत्त्वोऽनन्तरगाथया तस्य नामाख्याय ताताः! इमं वडवामुखं समुद्रं प्राप्ताः निवर्तितुं समर्था नौः नाम नास्ति। अयं सम्प्राप्तनावं निमज्जय्य विनाशं प्रापयतीत्याह। तां च नावं सप्तमनुष्यशतानि अभ्यरुक्षन्। ते सर्वे मरणभयभीतैकप्रहारेणैवावीच्यां पच्यमानानि सत्त्वानि इवातिकरुणस्वरममुञ्चन्। महासत्त्वः स्थापयित्वा मदन्यः एतेषां स्वस्तिभावं कर्तुं समर्थः नाम नास्ति। सत्क्रियया तेषां स्वस्ति करिष्यामीति चिन्तयित्वा तानामन्त्र्य ताताः! माम् क्षिप्रं गन्धोदकेन स्नापयित्वाहतवस्त्राणि निवास्य पूर्णपात्रीं सज्जयित्वा नावः धुर्यस्थापयत इति। ते वेगेन तथाकार्षुः। महासत्त्वः उभाभ्यां हस्ताभ्यां पूर्णपात्रीं गृहीत्वा नावः धुरिस्थितः सत्क्रियां कुर्वन्नवसानगाथामाह—

यतः स्मराम्यात्मानं यतः प्राप्तोऽस्मि विज्ञताम्,
नाभिजानामि सञ्चित्य एकप्राणमपि हिंसितम्।
एतेन सत्यवचेन स्वस्ति नावे निवर्ततामिति॥

चतुरो मासान् विदेशं प्रस्कन्दन्तः नावा निवृत्यर्द्धिमान् इव, ऋद्धानुभावेनैकदिवसेनैव भरुकच्छपत्तनमगमत्, गत्वा च पुनः स्थलेऽप्यष्टवृषभमात्रं स्थानं प्रस्कन्द्य नाविकस्य गृहद्वारेऽस्थात्। महासत्त्वः तेषां वणिजां स्वर्णरजतमणिप्रवालवज्राणि भाजयित्वादात्। एतावत्कैः वः रत्नैरलं मा पुनः समुद्रं प्रविशेत इति च तेभ्योऽववादं दत्वा यावज्जीवं दानादीनि पुण्यानि कृत्वा देवपुरमपूपुरयत्।

हिन्दी अनुवाद

भूतकाल में भरुराष्ट्र में भरुराजा राज्य करते थे। भरुकच्छ नाम का पत्तन-ग्राम था। उस समय बोधिसत्त्व भरुकच्छ में ज्येष्ठ नियामक के पुत्र होकर, प्रसन्नचित्त, सुवर्ण वर्णवाले रहे। इनका नाम शूर्पारक कुमार रखा गया। वे महान् परिवार के साथ बढ़ते हुए सोलह वर्ष की अवस्था में ही नियामक शिल्प में निष्पत्ति (कुशलता) को प्राप्तकर पिता की मृत्यु के उपरान्त नियामक होकर नियामक-कर्म-करने लगे। (वे) पण्डित एवं ज्ञानसम्पन्न हो गये। उनके नाव पर बैठ जाने पर कोई विपत्ति नहीं पड़ती थी। किसी समय नमकीन (खारे) जल से आहत होकर उनकी दोनों आँखें नष्ट हो गयीं। वे, तभी से, ज्येष्ठ नियामक होते हुए भी नियामक-कर्म न करते हुए 'राजा का आश्रय लेकर जीऊँगा' ऐसा विचारकर, राजा के पास गये। तदनन्तर राजा ने इन्हें मूल्य लगाने के कार्य में बैठा दिया (लगा दिया)। तभी से (वे) राजा के हस्तिरत्न, अश्वरत्न, मुक्ता, मणि आदि का मूल्य लगाया करते थे। तदनन्तर एक दिन (यह) राजा का मङ्गलहस्ती होगा, ऐसा विचारकर काले पत्थर के अग्रभाग के समान काले एक हाथी को (लोग) लाये। उसे देखकर राजा ने कहा—'पण्डित को दिखलाओ।' तदनन्तर इसे उसके पास (वे) ले गये। उस (नियामक) ने उसके शरीर को हाथ से मलकर कहा—'यह मङ्गल हाथी होने के योग्य नहीं है। पीछे से यह बौने शरीरवाला है, इसको उत्पन्न करती हुई (इसकी) माता कन्धे सँभाल नहीं सकी, इसलिए पृथ्वी पर गिरकर पिछले पैरों से यह बौने शरीरवाला हो गया।' हाथी को लेकर आये हुए (लोगों) से (लोगों ने) पूछा। पण्डित सत्य कह रहे हैं (यह) उन लोगों ने कहा। उस कारण को सुनकर, प्रसन्न हो राजा ने उसे आठ कार्षापण दिये। पुनः एक दिन, राजा का यह मङ्गलअश्व होगा, ऐसा सोचकर (लोग) एक अश्व लाये। उसको भी राजा ने पण्डित के पास भेज दिया। उसने हाथ से छूकर कहा—'यह मङ्गलअश्व होने योग्य नहीं है। इसके उत्पन्न होने के दिन ही इसकी माता मर गयी। इसलिए माता के दूध को न प्राप्त करता हुआ यह भलीभाँति बढ़ा नहीं है।' इसकी यह कथा भी सत्य ही हुई। इसको भी सुनकर सन्तुष्ट होकर राजा ने आठ कार्षापण ही उसे दिये। तत्पश्चात् एक दिन, 'यह मङ्गलरथ होगा' यह सोचकर (लोग) रथ लाये। राजा ने उसको भी उसी के पास भेजा। उसने उसे हाथ से छूकर कहा—'यह रथ सुसिर (सच्छिद्र) वृक्ष से बना है, इसलिए यह राजा के योग्य नहीं है।' इसकी यह कथा भी सत्य ही हुई। राजा ने उसको भी सुनकर उसे आठ कार्षापण ही दिये। तदनन्तर उसके पास बहुमूल्य कम्बलरत्न लाया गया। उसे भी उसी के पास भेजा। उसने हाथ से छूकर कहा—'एक स्थान पर मूषक ने काट लिया है।' शोधन करते हुए (शोधकर्त्ताओं ने) उसे देखकर राजा से कहा। सन्तुष्ट होकर राजा ने उसे आठ कार्षापण ही दिये। वह सोचने लगा—"इस राजा ने इस प्रकार के आश्चर्यों को देखकर भी आठ ही कार्षापण दिये। इसका वंश नापितवंश है। नापितवंश ही होगा (अतः) मुझे इस प्रकार के

राजा के पास रहने से क्या (लाभ), अपने निवास-स्थान पर ही जाऊँगा" ऐसा सोच-कर, वह भरुकच्छ नगर ही चला गया। उसके वहाँ रहने पर बनियों ने नाव सजाकर 'किसको नियामक बनाया जाय' इस प्रकार मन्त्रणा करते हुए (सोचा)—'शूर्पारक पण्डित के रहने पर नाव पर कोई विपत्ति नहीं आयेगी, (क्योंकि) यह पण्डित अन्धा होते हुए भी उपाय-कुशल है, (अतः) शूर्पारक पण्डित ही उत्तम हैं।' ऐसा सोचकर इनके पास जाकर (कहा)—'(आप) मेरे नियामक बन जायँ।' ऐसा कहने पर, 'तात! मैं अन्धा हूँ, कैसे नियामक-कर्म करूँगा' ऐसा उसके कहने पर (उन्होंने कहा)—'हे स्वामी, अन्धे भी आप हम लोगों के लिए उत्तम हैं।' इस प्रकार वारबार प्रार्थना किये जाने पर (उसने कहा)—'हे तात! ठीक है। आप लोगों द्वारा संज्ञा (संकेत) दिये जाने पर मैं नियामक होऊँगा (हो सकूँगा)।' (ऐसा सोचकर) उनकी नाव पर बैठ गये।

वे नाव से महासमुद्र में चले। नाव सात दिन तक निरुपद्रव चलती रही।

तदनन्तर अकाल वायु उत्पन्न हो गयी। नाव चार महीने तक समुद्र में विचरण करके क्षुरमाल नामक समुद्र में गयी, वहाँ मनुष्यों के समान शरीरवाली एवं क्षुरे के समान नाकवाली मछलियाँ जल में उन्मज्जन-निमज्जन (डूब-उतरा) कर रही थीं। बनियों ने महासत्त्व से उस समुद्र का नाम पूछते हुए पहली गाथा कही—

क्षुरे की तरह नाकवाले मनुष्य (जहाँ) उन्मज्जन-निमजन (डूब-उतरा) कर रहे हैं, हे शूर्पारक! तुमसे (हम लोग) पूछते हैं (कि) यह कौन-सा समुद्र है?

इस प्रकार उन लोगों के पूछे जाने पर महासत्त्व ने अपने नियामक-सूत्र से पता लगाकर दूसरी गाथा कही—

भरुकच्छ से प्रयाण किये हुए धन के लोभी बनियों के नाव के नाश के लिए क्षुरमाली (नाम का समुद्र) कहा जाता है।

उस समुद्र में वज्र उत्पन्न होता था। यह वज्र-समुद्र है, यदि मैं इसे इनसे कहूँगा (तो) लोभवश बहुत वज्र लेकर नाव को डुबा देंगे। ऐसा सोचकर, बिना उनसे कहे ही महासत्त्व ने नाव को लगाकर, उपाय द्वारा रस्सी को पकड़कर, मछली पकड़ने की विधि से जाल को फेंककर, वज्र निकालकर, नाव में डालकर, अन्य अल्प मूल्यवाले पात्रों को छोड़ दिया। उस समुद्र को पारकर नाव अग्निमाल (समुद्र) में गयी। वह जलते हुए अग्नि-खण्ड की भाँति तथा मध्याह्नकालीन सूर्य की भाँति तेज छोड़ रहा था। बनियों ने गाथा द्वारा पूछा—

'हे शूर्पारक! अग्नि एवं सूर्य की भाँति दिखायी देनेवाला यह कौन-सा समुद्र है, यह मैं तुमसे पूछता हूँ।' महासत्त्व ने भी एक दूसरी गाथा द्वारा कहा—'भरुकच्छ से प्रयाण किये हुए' 'अग्निमाली समुद्र कहा जाता है।' उस समुद्र में सुवर्ण भरा था। पूर्वनियम के द्वारा ही उससे भी सुवर्ण ग्रहण कर महासत्त्व ने नाव में रख लिया। नाव के द्वारा उस समुद्र को भी पारकर दूध एवं दही की भाँति अवभासित होनेवाले दधि-

माल नामक समुद्र को प्राप्त किया। बनियों ने गाथा द्वारा उसके नाम को पूछा— 'दही एवं दूध की भाँति दिखायी देनेवाला यह कौन-सा समुद्र है' 'आदि।'

दूसरी गाथा द्वारा महासत्त्व ने कहा—'भरुकच्छ से प्रयाण किये हुए' 'दधिमाली नाम का समुद्र कहा जाता है।' इस समुद्र में रजत भरा था। उसको भी उसने उपाय द्वारा ग्रहण कर नाव में डाल लिया। नाव द्वारा उस समुद्र को भी पारकर नील, कुश, तृण की भाँति, अनाज (पौधों) से सम्पन्न की भाँति अवभासित होनेवाले नील-वर्ण-वाले कुसुममाल नामक समुद्र को प्राप्त किया। बनियों ने गाथा द्वारा पूछा—

'कुश और शस्य की भाँति दिखायी देनेवाला यह कौन-सा समुद्र है'......।' उसने दूसरी गाथा द्वारा कहा—'भरुकच्छ से प्रयाण किये हुए' 'कुसुमाली नाम का समुद्र कहा जाता है।

उस समुद्र में नीलमणि रत्न भरा था। उसने उसको भी उपाय से ग्रहणकर नाव में डाल लिया। नाव द्वारा उस समुद्र को भी पारकर नलवन एवं वेणुवन की भाँति प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाले नलमाल नामक समुद्र को प्राप्त किया। बनियों ने गाथा द्वारा उसका भी नाम पूछा—नल की तरह, वेणु की तरह दिखायी देनेवाला यह कौन-सा समुद्र है? महासत्त्व ने दूसरी गाथा द्वारा कहा—'भरुकच्छ से प्रयाण किये हुए' 'नलमाली नाम का समुद्र कहा जाता है।'

इस समुद्र में वंश-राग वैदूर्य भरा था, उसने उसे लेकर नाव में डाल दिया। बनियों ने नलमाल का अतिक्रमण करके वडवामुख नामक समुद्र को देखा—'उसमें जल सभी ओर से खींच-खींचकर ऊपर की ओर उठता था। सभी ओर से उठा हुआ जल, सभी ओर से कटे हुए तटवाले महागर्त की तरह प्रतीत होता है। लहरों के ऊपर उठने के कारण एक तरफ झरने के समान है। कानों को छेदता हुआ, हृदय को विदीर्ण करता हुआ भय उत्पन्न करनेवाला शब्द उत्पन्न होता है।' उसे देखकर भय से डरे हुए बनियों ने गाथा द्वारा उसका नाम पूछा—

महाभयानक, भीषण एवं अमानुष शब्द सुनायी दे रहा है।

गर्त और प्रपात के सदृश यह समुद्र दिखायी दे रहा है।

भरुकच्छ से प्रयाण किये हुए'.....'वडवामुख कहा जाता है। बोधिसत्त्व ने दूसरी गाथा से उसके नाम को कहा—'हे तात! यह बडवामुख नाम का समुद्र है (यहाँ से) नाव लौटने में समर्थ नहीं है। यह इस नाव को डुबोकर विनाश को प्राप्त करायेगा।' उस नाव में बैठे हुए सभी प्राणी मरण के भय से डरकर पकाये जाते हुए प्राणी की तरह एक प्रहार में अत्यन्त करुण रुदन करने लगे। रोककर महासत्त्व ने सोचा—मेरे अतिरिक्त इनका कल्याण करने में दूसरा कोई समर्थ नहीं है। सत्क्रिया द्वारा इनका कल्याण करूँगा—ऐसा सोचकर उन्हें आमन्त्रित कर (कहा)—'हे तात! शीघ्र ही मुझे गन्धोदक से स्नान कराकर, स्वच्छ वस्त्रों को पहनाकर, पूर्णपात्र सजाकर नाव की धुरी पर स्थापित कर दें।' उन्होंने शीघ्रतापूर्वक वैसा किया। महासत्त्व ने

दोनों हाथों से पूर्णमात्र को ग्रहणकर नाव की धुरी पर स्थित हो सत्क्रिया करते हुए अवसान गाथा को कहा—

जिसके कारण अपने को स्मरण करता हूँ तथा जिससे विज्ञता को प्राप्त हुआ हूँ। विचार करने पर भी किसी प्राण को मरा हुआ नहीं जानता हूँ।

इस सत्य वचन द्वारा नाव का कुशल (स्वस्ति) हो।

चार महीने तक विदेश में घूमते हुए नाव से निवृत्त होकर, ऋद्धिमान की तरह समृद्धि के साथ एक ही दिन में (वे) भरुकच्छ नगर पहुँच गये। स्थल पर जाकर, आठ बैल के बराबर स्थान खोजकर नाविक के दरवाजे पर स्थित हो गये। महासत्त्व ने उन बनियों को स्वर्ण, रजत, मणि, मूँगा, वज्र आदि बाँटकर दे दिया। आप लोगों के लिए इतना ही रत्न पर्याप्त है, पुनः समुद्र में प्रवेश न कीजियेगा। इस प्रकार उन्हें अववाद (शिक्षा) देकर जीवनभर दान आदि पुण्यों को करके देवपुर को भर दिया (स्वर्ग चले गये)।

वानरिन्दजातकम्

अतीते बाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते बोधिसत्तो कपियोनियं निब्बत्तित्वा बुद्धिं अन्वाय अस्सपोतप्पमाणो थामसम्पन्नो एकचरो हुत्वा नदी तीरे विहरति। तस्सा पन नदिया वेमज्झे एको दीपको नानप्पकारेहि अम्बपनसादीहि फलरुक्खेहि सम्पन्नो। बोधिसत्तो नागबलो थामसम्पन्नो नदिया ओरिमतीरतो उप्पतित्वा दीपकस्स ओरतो नदीमज्झे एको पिट्ठिपासाणो अत्थि तस्मिं निपतति, ततो उप्पतित्वा तस्मिं दीपके पतति। तत्थ नानप्पकारानि फलानि खादित्वा सायं तेनेव उपायेन पच्चागन्त्वा अत्तनो वसनट्ठाने वसित्वा पुनदिवसे पि तथेव करोति। इमिना नियमेन तत्थ वासं कप्पेति। तस्मिं पन काले एको कुम्भीलो सपजापतिको तस्सा नदिया वसति। तस्स सा भरिया बोधिसत्तं अपरापरं गच्छन्तं दिस्वा बोधिसत्तस्स हदयमंसे दोहळं उप्पादेत्वा कुम्भीलं आह—'मय्हं खो अय्य, इमस्स वानरिन्दस्स हदयमंसे दोहळो उप्पन्नो'ति। कुम्भीलो 'साधु होति, लच्छसी'ति वत्वा 'अज्ज तं सायं दीपकतो आगच्छन्तमेव गण्हिस्सामी'ति गन्त्वा पिट्ठिपासाणे निपज्जि। बोधिसत्तो दिवसं चरित्वा सायण्हसमये दीपके ठितो'ह पासाणं ओलोकेत्वा 'अयं पासाणो इदानि उच्चतरो खायति, किन्नु कारणं, ति चिन्तेसि। तस्स किर उदकप्पमाणं च पासाणप्पमाणं च सुववत्थापितमेव। तेनस्स एतदहोसि— 'अज्ज इमिस्सा नदिया उदकं नेव हायति न वड्ढति, अथ च पनायं पासाणो महा हुत्वा पञ्ञायति, कच्चि नु खो एत्थ मय्हं गहणत्थाय कुम्भीलो निपन्नो' ति। सो 'वीमंसामि ताव नं'ति तत्थेव ठत्वा पासाणेन सद्धिं कथेन्तो विय 'भो पासाण' ति वत्वा पटिवचनं अलभन्तो यावततियं 'पासाणा' ति आह। 'पासाणो किं पटिवचनं न दस्सती' ति पन पि तं वानरो 'किं भो पासाण, अज्ज मय्हं पटिवचनं न देसी' ति आह। कुम्भीलो 'अद्धा अञ्ञेसु दिवसेसु अयं पासाणो वानरिन्दस्स पटिवचनं अदासि' दस्सामि दानिस्स पटिवचनं' ति चिन्तेत्वा 'किं भो वानरिन्दा' ति आह। 'को'सि त्वं' ति। 'अहं कुम्भीलो' ति। 'किमत्थं एत्थ निपन्नो' सी' ति। 'तव हदयमंसं पत्थयमानो'ति। बोधिसत्तो चिन्तेसि—'अञ्ञो मे गमनमग्गो नत्थि, अज्ज मया एस कुम्भीलो वञ्चेतब्बो' ति। अथ नं एवमाह—'सम्म कुम्भील, अहं अत्तानं तुय्हं परिच्चजिस्सामि, त्वं मुखं विवरित्वा मं तव सन्तिकं आगतकाले गण्हाही'ति। कुम्भीलानं हि मुखविवटे अक्खीनि निमीलन्ति। सो तं कारणं असल्लक्खेत्वा मुखं विवरि। अथस्स अक्खीनि पिथीयिंसु। सो मुखं विवरित्वा अक्खीनि निमीलेत्वा निपज्जि। बोधिसत्तो तथाभावं ञत्वा दीपका उप्पतितो गन्त्वा

कुम्भीलस्स मत्थकं अक्कमित्वा ततो उप्पतितो विज्जुल्लता विय विज्जोतमानो परतीरे अट्ठासि। कुम्भीलो तं अच्छरियं दिस्वा 'इमिना वानरिन्देन अतिअच्छेरकं कतं'ति चिन्तेत्वा 'भो वानरिन्द इमस्मिं लोके चतूहि धम्मेहि समन्नागतो पुग्गलो पच्चामित्ते अभिभवति, ते सब्बे पि तुय्हं अब्भन्तरे अत्थि मञ्ञे'ति वत्वा इमं गाथमाह—

यस्सेते चतुरो धम्मा वानरिन्द यथा तव।
सच्चं धम्मो धीती चागो दिट्ठं सो अतिवट्टतीति॥

एवं कुम्भीलो बोधिसत्तं पसंसित्वा अत्तनो वसनट्ठानं गतो।

संस्कृत अनुवाद

अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्त्वः कपियोन्यां निर्वृत्त्य वृद्धिमन्वित्य अश्वपोतप्रमाणः स्थामसम्पन्नः एकचरो भूत्वा नदीतीरे विहरति। तस्याः पुनर्नद्याः विमध्ये एको द्वीपको नानाप्रकारैः आम्रपनसादिभिः फलवृक्षैः सम्पन्नः। बोधिसत्त्वो नागबलः स्थामसम्पन्नः नद्याः अवरतीरतः उत्पत्य द्वीपकस्य अवरतः नदीमध्ये एकः पृष्ठिपाषाणः अस्ति तस्मिन् निपतति, ततः उत्पत्य तस्मिन् द्वीपके पतति। तत्र नानाप्रकाराणि फलानि खादित्वा सायं तेनैवोपायेन प्रत्यागत्य आत्मनो वसनस्थाने उषित्वा पुनर्दिवसेऽपि तथैव करोति। अमुना नियमेन तत्र वासं कल्पयति। तस्मिन् पुनः काले एकः कुम्भीलः सप्रजापतिकः तस्यां नद्यां वसति। तस्य सा भार्या बोधिसत्त्वं अपरापरं गच्छन्तं दृष्ट्वा बोधिसत्त्वस्य हृदयमांसे दोहदमुत्पाद्य कुम्भीलमाह—'मम खलु आर्य! अस्य वानरेन्द्रस्य हृदयमांसे दोहद उत्पन्नः' इति। कुम्भीलः 'साधु भवति, लप्स्यसे' इत्युक्त्वा 'अद्य तं सायं द्वीपकतः आगच्छन्तमेव ग्रहीष्यामि' इति गत्वा पृष्ठिपाषाणे न्यपतत्। बोधिसत्त्वो दिवसं चरित्वा सायाह्नसमये द्वीपस्थित एव पाषाणमवलोक्य 'अयं पाषाणः इदानीमुच्चतरः ख्यायते, किन्नु कारणम्' इत्यचिचिन्तत्। तस्य किल उदकप्रमाणं च सुव्यवस्थापितमेव। तेनास्य एतदभूत 'अद्य अस्याः नद्या उदकं नैव हीयते न वर्धते, अथ च पुनरयं पाषाणो महान् भूत्वा प्रज्ञायते, कश्चिन्नु खल्वत्र मम ग्रहणार्थाय कुम्भीलो निपन्नः, इति स 'विमृशामि तावदेनम्' इतितत्रैव स्थित्वा पाषाणेन सार्द्धं कथयन्निव 'भो पाषाण!' इत्युक्त्वा प्रतिवचनं अलभमानः यावत्तृतीयं 'पाषाण' इत्याह 'पाषाण किं प्रतिवचनं न ददासि' इति पुनरपि तं वानरः 'किं भोः पाषाण! अद्य मह्यं प्रतिवचनं न ददासि' इत्याह। कुम्भीलो 'अद्धा अन्येषु दिवसेषु अयं पाषाणो वानरेन्द्रस्य प्रतिवचनमदात्। दास्यामि इदानीमस्य प्रतिवचनम्' इति चिन्तयित्वा 'किं भो वानरेन्द्र', इत्याह। 'कोऽसि त्वं' इति। 'अहं कुम्भीलः' इति। 'किमर्थं अत्र निपन्नोऽसि' इति 'तव हृदयमांसं प्रार्थयमानः' इति। बोधिसत्त्वः अचिचिन्तत् 'अन्यो मे गमनमार्गो नास्ति, अद्य मया एष कुम्भीलो वञ्चयितव्यः' इति। अथैनमेवमाह—सौम्य कुम्भील! अहमात्मानं ते परित्यक्ष्यामि, त्वं मुखं विधृत्य मां तवान्तिकं आगतकाले गृहाण' इति। कुम्भीलानां हि मुखे विवृते अक्षिणी

निमीलत: । स तत्कारणं असंलक्ष्य मुखं व्यवारीत् । अथास्य अक्षिणी प्यधायिषाताम् । स मुखं विवृत्य अक्षिणी निमील्य न्यपादि । बोधिसत्त्वः तथाभावं ज्ञात्वा द्वीपकादुत्पतितो गत्वा कुम्भीलस्य मस्तकमाक्रम्य तत उत्पतितो विद्युल्लतेव विद्योतमानः परतीरे अस्थात् । कुम्भीलस्तदाश्चर्यं दृष्ट्वा 'अनेन वानरेन्द्रेण अत्याश्चर्यं कृतं, इति चिन्तयित्वा 'भो वानरेन्द्र ! अस्मिन् लोके चतुर्भिधर्मैः समन्वागतः पुद्गलः प्रत्यमित्राणि अभिभवति । ते सर्वेऽपि तवाभ्यन्तरे सन्ति मन्ये' इत्युक्त्वा इमां गाथामाह—

यस्यैते चत्वारो धर्माः वानरेन्द्र ! यथा तव ।
सत्यं धर्मो धृतिस्त्यागः दृष्टं सोऽतिवर्तते ॥ इति ॥

एवं कुम्भीलो बोधिसत्त्वं प्रशस्य आत्मनो वासस्थानं गतः ।

हिन्दी अनुवाद

भूतकाल में ब्रह्मदत्त के शासन-काल में वाराणसी में बोधिसत्त्व, कपियोनि में उत्पन्न होकर तथा बुद्धि से युक्ति हो, अश्वपोत की तरह लम्बे-चौड़े, स्थाम (शौर्य) सम्पन्न हो अकेले नदी के किनारे विचरण करते थे। उस नदी के बीच में नाना प्रकार के आम्र, कटहल आदि फल के वृक्षों से सम्पन्न एक द्वीप था। नाग (हाथी) के समान शक्ति से सम्पन्न स्थाम (शौर्य) सम्पन्न बोधिसत्त्व नदी के दूसरे तीर से कूदकर नदी के बीच में द्वीप के दूसरी ओर स्थित पृष्ठिपाषाण पर गिरते थे। वहाँ नाना प्रकार के फलों को खाकर सायंकाल उसी उपाय से लौटकर अपने निवास-स्थान पर रहकर दूसरे दिन भी वैसा ही करते थे। इस नियम से वहाँ रहते थे। उसी समय अपने परिवार के साथ एक कुम्भील उस नदी में रहता था। उसकी पत्नी ने बोधिसत्त्व को इस पार से उस पार जाते हुए देखकर बोधिसत्त्व के हृदय के मांस में दोहद उत्पन्न कर कुम्भील से कहा—'हे आर्य! वानर के हृदय के मांस में दोहद उत्पन्न हो गया है। 'बहुत ठीक, प्राप्त करोगी आज सायंकाल द्वीप से आते हुए ही उसको पकड़ूँगा' ऐसा सोचकर, जाकर कुम्भील पृष्ठिपाषाण पर कूद गया। बोधिसत्त्व दिनभर चरकर सायंकाल द्वीप पर बैठे हुए ही पाषाण को देखकर 'यह पाषाण इस समय ऊँचा हो गया है, क्या कारण है' सोचने लगे। उसका जल-प्रमाण (निशान) पहले की भाँति ही व्यवस्थित था। उसके मन में ऐसा हुआ—'आज इस नदी का जल न कम हुआ है, न बढ़ा ही है, फिर भी यह पाषाण बड़ा दिखायी दे रहा है। यहाँ कोई कुम्भील मुझे पकड़ने के लिए पड़ा हुआ है। इसकी मैं मीमांसा (परीक्षा) करता हूँ।' इस प्रकार उसने वहीं स्थित होकर पाषाण को कहा-हे पाषाण! इस प्रकार कहकर प्रत्युत्तर न प्राप्त करता हुआ तीसरी बार भी 'हे पाषाण' ऐसा कहा। 'हे पाषाण! प्रत्युत्तर क्यों नहीं दे रहे हो।' 'हे पाषाण, मुझे क्यों आज प्रत्युत्तर नहीं दे रहे हो' इस प्रकार वानर ने पुनः पुनः उससे कहा। अन्य दिन यह पाषाण वानरेन्द्र को प्रत्युत्तर देता था, इसलिए इनका प्रत्युत्तर मैं दूँगा, ऐसा सोचकर 'क्या है वानरेन्द्र!' ऐसा कुम्भील ने कहा। 'तुम कौन हो'? 'मैं कुम्भील हूँ' 'किसलिए यहाँ पड़े हो?' 'तुम्हारे हृदय के मांस की प्राप्ति के लिए।' बोधिस

सोचने लगे—मेरे गमन का दूसरा कोई मार्ग नहीं है। आज मुझे इस कुम्भील को ठगना चाहिए। उससे इस प्रकार कहा—'सौम्य कुम्भील! मैं अपने को तुम्हें दे दूँगा। तुम मुख खोलकर अपने पास आने के समय (मुझे) पकड़ लेना।' मुख खोलने पर कुम्भीलों की आँख बन्द हो जाती है। उसने इस कारण को विना देखे ही मुख खोल लिया। उसकी आँख बन्द हो गयी। वह मुख खोलकर आँख मूँदकर पड़ गया। बोधिसत्त्व उस भाव को जानकर द्वीप से कूदकर कुम्भील के मस्तक पर आक्रमण (चढ़) करके वहाँ से कूदकर विद्युल्लता की भाँति द्योतित होते हुए दूसरे तीर पर स्थित हो गये। कुम्भील ने उस आश्चर्य को देखकर, इस वानरेन्द्र ने बड़ा आश्चर्य किया, ऐसा सोचकर—'हे वानरेन्द्र! इस संसार में चार धर्मों से युक्त पुद्गल (जीव) शत्रुओं को अभिभूत करता है। वे सभी तुम्हारे अन्दर हैं यह मानता हूँ'—इस गाथा को कहा—

'हे वानरेन्द्र! तुम्हारी तरह जिसके अन्दर ये चारों धर्म—सत्य, धर्म, धैर्य एवं त्याग हैं, वह अपने शत्रु को अभिभूत करता है।'

इस प्रकार कुम्भील, बोधिसत्त्व की प्रशंसा करके अपने-निवास-स्थान पर चला गया।

———

सुंसुमारजातकम्

अतीते बाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते हिमवन्तप्पदेसे बोधिसत्तो कपियोनियं निब्बत्तित्वा नागबलो थामसम्पन्नो महासरीरो सोभग्गप्पत्तो हुत्वा गङ्गानिवत्तने अरञ्ञायतने वासं कप्पेसि। तदा गङ्गाय एको सुंसुमारो वसि। अथस्स भरिया बोधिसत्तस्स सरीरं दिस्वा तस्स हदयमंसे दोहळं उप्पादेत्वा सुंसुमारं आह 'अहं सामि, एतस्स कपिरजस्स हदयमंसं खादितुकामा'ति! 'भद्दे, मयं जलगोचरा, एस थलगोचरो, किं ति तं गण्हितुं सक्खिस्सास्मा'ति। 'येन तेन उपायेन गण्ह, सचे न लभिस्सामि मरिस्सामी-ति। तेन हि मा भायि, अत्थेको उपायो ति खादापेस्सामि तं तस्स हदयमंसं ति सुंसुमारिं समस्सासेत्वा बोधिसत्तस्स गङ्गाय पानीयं पिवित्वा गङ्गातीरे निसिन्नकाले सन्तिकं गन्त्वा एवमाह—'बानरिन्द, इमस्मिं पदेसे कसटफलानि खादन्तो किं त्वं चिण्णट्ठाने येव चरसि, पारगङ्गाय अम्बलकुजादीनं मधुरफलानं अन्तो नत्थि, किं ते तत्थ गन्त्वा फलाफलं खादितुं न वट्टती'ति 'कुम्भीलराज, गङ्गा महोदिका वित्तिण्णा, कथं तत्थ गमिस्सामी'ति। 'सचे गच्छसि अहं तं मम पिट्ठिं आरोपेत्वा नेस्सामी'ति। सो तं सद्दहित्वा 'साधू'ति सम्पटिच्छित्वा तेन हि 'एहि, पिट्ठिं मे अभिरूहा'ति च वुत्ते तं अभिरूहि। सुंसुमारो थोकं नेत्वा उदके ओसिदापेसि। बोधिसत्तो 'सम्म, उदके मं ओसीदापेसि, किं नु खो एतं' ति आह। 'नाहं तं धम्मे सुधम्मताय गहेत्वा गच्छामि, भरियाय पन मे तव हदयमंसे दोहळो उप्पन्नो, तं अहं तव हदयं खादापेतुकामो'ति। 'सम्म, कथेन्तेन ते सुंदरं कतं, सचे हि अम्हाकं उदरे हदयं भवेय्य साखग्गेसु चरन्तानं चुण्णविचुण्णं भवेय्या' ति। 'कहं पन तुम्हे ठपेथा' ति बोधिसत्तो अविदूरे एकं उदुम्बरं पक्कफलपिण्डिसम्पन्नं दस्सेन्तो 'पस्सेतानि अम्हाकं हदयानि एकस्मिं उदुम्बरे ओलम्बन्ती' ति। 'सचे मे हदयं दस्ससि अहं तं न मारेस्सामी'ति। तेन हि 'एत्थ नेहि मं, अहं ते रुक्खे ओलम्बंतं दस्सामी' ति। सो तं आदाय तत्थ अगमासि। बोधिसत्तो तस्स पिट्ठितो उप्पतित्वा उदुम्बररुक्खे निसीदित्वा 'सम्म बालसुंसुमार, इमेसं सत्तानं हदयं नाम रुक्खग्गे होतीति सञ्ञी अहोसि, बालो सि, अहं तं वञ्चेसिं, तव फलाफलं तवेव होतु। सरीरमेव पन ते महन्तं, पञ्ञा पन नत्थी' ति वत्वा इममत्थं पकासेन्तो इमा गाथा अवोच—

अलं एतेहि अम्बेहि जम्बूहि पनसेहि च।
यानि पारं समुद्दस्स वरं मय्हं उदुम्बरो॥

महती बत ते बोन्दि न च पञ्ञा तदूपिका ।
सुंसुमार, वञ्चितो'सि गच्छ दानि यथासुखं ति ।।

सुंसुमारो सहस्सं पराजितो विय दुक्खो दुम्मनो पज्झायन्तो अत्तनो निवेसनट्ठानमेव गतो ।

संस्कृत अनुवाद

अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति हिमवत्प्रदेशे बोधिसत्त्वः कपियोन्यां निर्वृत्त्य नागबलः स्थामसम्पन्नः महाशरीरः प्राससौभाग्यः भूत्वा गङ्गानिवर्तने अरण्यायतने वासमचिक्लिपत् । तदा गङ्गायामेकः शिंशुमारोऽवात्सीत् । अथास्य भार्या बोधिसत्त्वस्य शरीरं दृष्ट्वा हृदयमांसे दोहदमुत्पाद्य शिंशुमारमाह—'अहं स्वामिन् ! एतस्य कपिराजस्य हृदयमांसं खादितुकामा' इति । भद्रे, वयं जलगोचराः, एष स्थलगोचरः, किमिति तं ग्रहीतुं शक्ष्यामः ?' इति । 'येन केनोपायेन गृहाण, चेन्न लप्स्ये मरिष्यामि' इति । 'तेन हि मा भैषीः, अस्त्येक उपायः, खादयिष्यामि त्वां तस्य हृदयमांसम्' इति शिंशुमारीं समाश्वास्य बोधिसत्त्वस्य गङ्गायाः पानीयं पीत्वा गङ्गातीरे निषण्णकाले अन्तिकं गत्वा एवमाह—'वानरेन्द्र ! अस्मिन्प्रदेशे कष्टफलानि खादन् किं त्वं जीर्णस्थान एव चरसि । पारेगङ्गायां आम्रलकुचादीनां मधुरफलानामन्तो नास्ति, किं ते तत्र गत्वा फलाफलं खादितुं न वर्तते' इति । 'कुम्भीलराज ! गङ्गा महोदका विस्तीर्णा, कथं तत्र गमिष्यामि' इति । 'चेद् गच्छसि अहं त्वां मम पृष्ठमारोप्य नेष्यामि', इति । स तं श्रद्धया साध्विति संप्रतीष्य तेन हि 'एहि पृष्ठं मे अभिरोह' इति चोक्ते तमभ्यरुक्षत् । शिंशुमार स्तोकं नीत्वा उदके अवासदत् । बोधिसत्त्वः 'सौम्य ! उदके मामवसादयसि, किं नु खलु एतद्' इत्याह । 'नाहं त्वां धर्मे सुधर्मतया, गृहीत्वा गच्छामि, भार्यायाः पुनर्मे तव हृदयमांसे दोहद उत्पन्नः, तामहं तव हृदयं खादयितुकाम' इति । 'सौम्य ! कथयता त्वया सुन्दरं कृतं, चेद् ह्यस्माकं उदरे हृदयं भवेत् शाखाग्रेषु चरतां चूर्णविचूर्णं भवेत्' इति । 'कुत्र पुनः यूयं स्थापयथ' इति बोधिसत्त्वः अविदूरे एकमुदुम्बरं पक्वफलपिण्डिसम्पन्नं दर्शयन् 'पश्यैतानि अस्माकं हृदयानि एकस्मिन् उदुम्बरे अवलम्बन्ते' इति । 'चेन्मे हृदयं दास्यसि अहं त्वां न मारयिष्यामि' इति । तेन हि अत्र 'नय मां, अहं ते वृक्षे अवलम्बमानं दास्यामि' इति । स तमादाय तत्रागमत् । बोधिसत्त्वस्तस्य पृष्ठत उत्पत्य उदुम्बरवृक्षे निषद्य 'सौम्य, बालशिंशुमार ! एतेषां सत्त्वानां हृदयनाम वृक्षाग्रे भवतीति संज्ञी अभूः । बालोऽसि, अहं त्वामवावञ्चम् । तव फलाफलं तवैव भवतु । शरीरमेव पुनस्ते महत्, प्रज्ञा पुनर्नास्ति' इत्युक्त्वा इममर्थं प्रकाशयन् इमां गाथामवोचत्—

अलमेतैराम्रैः जम्बुभिः पनसैश्च ।
यानि पारं समुद्रस्य वरं मम उदुम्बरः ।।

महती बत ते काया न च प्रज्ञा तद्रूपिका।
शिंशुमार ! वञ्चितोऽसि गच्छेदानीं यथासुखम् ॥इति॥

शिंशुमारः सहस्रं पराजित इव दुखी दुर्मना प्रध्यायन् आत्मनो निवासस्थानमेव गतः।

हिन्दी अनुवाद

अतीतकाल में ब्रह्मदत्त के शासन-काल में वाराणसी में हिमवत्प्रदेश में बोधिसत्त्व ने कपि-योनि में उत्पन्न होकर हाथी की तरह बली, स्थूल, महाशरीर से युक्त हो, सौभाग्य-सम्पन्न हो, गंगा के तट पर जंगल में अपना निवासस्थान बनाया। उस समय गंगा में एक शिंशुमार रहता था। उसकी पत्नी ने बोधिसत्त्व के शरीर को देखकर उसके हृदय के मांस में अपना दोहद उत्पन्न कर शिंशुमार से कहा—'हे स्वामी! मैं इस वानरराज के हृदय के मांस को खाना चाहती हूँ'। 'कल्याणि, हमलोग जल-गोचर हैं, यह स्थल-गोचर है, इसको पकड़ने में हमलोग कैसे समर्थ हो सकते हैं?' जिस किसी उपाय से पकड़िये, यदि प्राप्त नहीं करूँगी तो (मैं) मर जाऊँगी।' शिंशुमारी को आश्वस्त कर, गंगा का पानी पीकर, बोधिसत्त्व के गंगा के तट पर बैठने के समय (बोधिसत्त्व के) समीप जाकर (शिंशुमार ने) इस प्रकार कहा—'हे वानरेन्द्र! इस स्थान पर कष्ट (कसैले) फलों को खाते हुए तुम क्यों इस दुर्गम स्थान में विचरण करते हो! गंगा के उस पार आम, लीची आदि मधुर फलों का कोई अन्त नहीं है। वहाँ जाकर क्या फलाफल को आप नहीं खा सकते?' 'हे कुम्भीलराज! गंगा अधिक जल-वाली एवं अत्यधिक विस्तीर्ण है, कैसे वहाँ जाऊँगा'। 'यदि जाओ तो मैं तुम्हें पीठ पर बैठाकर ले चलूँगा।' उसके श्रद्धापूर्वक 'साधु' कहकर, विश्वास प्रकट करने पर 'इसलिए आओ मेरी पीठ पर चढ़ जाओ' इस प्रकार उसके (शिंशुमार) कहने पर, उस पर चढ़ गया। जल में थोड़ी दूर ले जाकर शिंशुमार विषण्ण होने लगा। 'सौम्य! तुम मुझे जल में दुःखी कर रहे हो। यह क्या है?' इस प्रकार बोधिसत्त्व ने कहा। 'धर्म में सुधर्मता के कारण मैं तुम्हें नहीं ले जा रहा हूँ, मेरी पत्नी का तुम्हारे हृदय के मांस में दोहद उत्पन्न हो गया है, वह तुम्हारे हृदय को खाना चाहती है।' 'सौम्य! कहकर तुमने बहुत सुन्दर किया। यदि मेरे उदर में हृदय होता तो शाखाओं के अग्र-भाग पर विचरण करते समय चूर्ण-चूर्ण हो गया होता।' 'तुम उसे कहाँ रखते हो', बोधिसत्त्व ने समीप ही पके हुए फलों के पिण्ड से सम्पन्न एक उदुम्बर को दिखलाते हुए कहा—'यह मेरा हृदय इस उदुम्बर पर लटक रहा है।' 'यदि मुझे हृदय दे दोगे तो मैं तुम्हें नहीं मारूँगा।' 'मुझे यहाँ लाओ, मैं तुम्हें वृक्ष पर लटकते हुए (हृदय) को दे दूँगा।' वह उसे लेकर वहाँ गया। बोधिसत्त्व ने उसके पीछे से उछलकर उदुम्बर वृक्ष पर बैठकर (कहा)—'सौम्य! बाल-शिंशुमार! हृदय वृक्ष के अग्र-भाग पर रहता है, यह मैंने (अभी) जाना है। तुम अज्ञ हो, मैंने तुम्हें ठग लिया। तुम्हारा फलाफल तुम्हारे

लिए ही हो। (केवल) तुम्हारा शरीर ही महान् है, बुद्धि नहीं है।' यह कहकर इस अर्थ को प्रकाशित करती हुई इस गाथा को कहा—

समुद्र के पार जो ये आम्र, जम्बूफल, कटहल हैं, वे व्यर्थ हैं। मेरा उदुम्बर ही श्रेष्ठ है। तुम्हारा शरीर बड़ा है, परन्तु बुद्धि तद्रूप नहीं है। हे शिंशुमार! तुम ठग लिये गये हो। इस समय सुखपूर्वक जाओ।

शिंशुमार अत्यधिक पराजित की भाँति दुःखी, खिन्न एवं अभिभूत होता हुआ अपने निवास-स्थान पर ही चला गया।

निग्रोधमिगजातकम्

अतीते बाराणसियं ब्रह्मदत्ते रज्जं कारेन्ते बोधिसत्तो मिगयोनियं पटिसन्धिं गण्हि। सो मातुकुच्छितो निक्खमन्तो सुवण्णवण्णो अहोसि, अक्खीनि च'स्स मणिगुळसदिसानि अहेसुं सिङ्गानि रजतवण्णानि, मुखं रत्तकम्बलपुञ्जवण्णं, हत्थापादपरियन्ता लाखापरिकम्मकता विय, वालधी चमरस्स विय अहोसि, सरीरं, पुन'स्स महन्तं अस्सपोतकप्पमाणं अहोसि। सो पञ्चसतमिगपरिवारो अरञ्ञे वासं कप्पेसि नामेन निग्रोधमिगराजा नाम। अविदूरे पन'स्स अञ्ञोपि पञ्चसतमिगपरिवारो साखमिगो नाम वसति, सोपि सुवण्णवण्णो' व अहोसि। तेन समयेन बाराणसिराजा मिगवधपसुतो होति, विना मंसेन न भुञ्जति, मनुस्सानं कम्मच्छेदं कत्वा सब्बे नेगमजानपदे सन्निपातेत्वा देवसिकं मिगवं गच्छति। मनुस्सा चिन्तेसुं—अयं राजा अम्हाकं कम्मच्छेदं करोति यन्नून मयं उय्याने मिगानं निवापं वपित्वा पानियं सम्पादेत्वा बहुमिगे उय्याने पवेसेत्वा द्वारं बन्धित्वा निय्यादेमा'ति। ते सब्बे उय्याने निवापतिनं रोपेत्वा उदकं सम्पादेत्वा द्वारं योजापेत्वा नागरे आदाय मुग्गरादिनानावुधहत्था अरञ्ञं पविसित्वा मिगे परियेसमाना मज्झे ठिते मिगे गण्हिस्सामा' ति योजनमत्तं ठानं परिक्खिपित्वा संखिपमाना निग्रोधमिग-साखामिगानं वसनट्ठानं मज्झे कत्वा परिक्खिपिसु। अथ तं मिगगणं दिस्वा रुक्खगुम्बादयो च भूमिं मुग्गरेहि पहरन्ता मिगगणं गहनट्ठानतो नीहरित्वा असिसत्तिधनुआदानि आवुधानि उग्गिरित्वा महानादं नदन्ता तं मिगगणं उय्यानं पवेसेत्वा द्वारं पिधाय राजानं उपसंकमित्वा—'देव, निबद्धं मिगवं गच्छन्ता अम्हाकं कम्मं न नासेथ, अम्हेहि अरञ्ञतो मिगे आनेत्वा तुम्हाकं उय्यानं पूरितं, इतो पट्ठाय तेसं मंसं खादथा'ति राजानं आपुच्छित्वा पक्कमिंसु। राजा तेसं वचनं सुत्वा उय्यानं गन्त्वा मिगे ओलोकेन्तो द्वे सुवण्ण-मिगे दिस्वा तेसं अभयं अदासि। ततो पट्ठाय पन कदाचि सयं गन्त्वा एक-मिगं विज्झित्वा आनेति, कदाचि'स्स भत्तकारको गन्त्वा विज्झित्वा आहरति। मिगा धनुं दिस्वा'व मरणभयेन तज्जिता पलायन्ति, द्वे तयो पहारे लभित्वा किलमन्ति पि गिलानापि होन्ति मरणं पि पापुणन्ति। मिगगणं तं पवत्तिं बोधिसत्तस्स आरोचेसि। सो साखं पक्कोसापेत्वा आह—'सम्म बहू मिगा नस्सन्ति एकंसेन मरितब्बे सति इतो पट्ठाय मा कण्डेन मिगे विज्झन्तु, धम्मगण्डिकट्ठाने मिगानं वारो होतु एकदिवसं मम परिसाय वारो पापु-णातु, एकदिवसं तव परिसाय वारो पापुणातु, वारप्पत्तो मिगो धम्म-गण्डिकाय सीसं ठपेत्वा निपज्जतु, एवं सन्ते मिगा वणिता न भविस्स-

न्ती'ति। 'सो साधू'ति सम्पटिच्छि। ततो पट्ठाय वारप्पत्तो व मिगो गन्त्वा धम्मगण्डिकाय गीवं ठपेत्वा निपज्जति, भत्तकारको आगन्त्वा तत्थ निपन्नकं एव गहेत्वा गच्छति। अथेकदिवसं साखमिगस्स परिसाय एकिस्सा गब्भिणी-मिगिया वारो पापुणि। सा साखं उपसङ्कमित्वा–'सामि अहं अपि गब्भिणी, पुत्तकं विजायित्वा द्वे जना वारं गमिस्साम, मय्हं वारं अतिक्कमेही'ति आह। सो 'न सक्का तव वारं अञ्ञेसं पापेतुं, त्वं एव तुय्हं पुत्तं जनिस्ससि, गच्छाही'ति आह। सा तस्य सन्तिका अनुग्गहं अलभमाना बोधिसत्तं उपसङ्कमित्वा तं अत्थं आरोचेसि। सो तस्सा वचनं सुत्वा 'होतु गच्छ त्वं, अहं ते वारं अतिक्कमेस्सामी'ति सयं गन्त्वा धम्मगण्डिकाय सीसं कत्वा निपज्जि। भत्तकारो तं दिस्वा 'लद्धाभयो मिगराजा गण्डिकाय निपन्नो, किं नु कारणं'ति वेगेन गन्त्वा रञ्ञो आरोचेसि। राजा तावदेव रथं आरुय्ह महन्तेन परिवारेन आगन्त्वा बोधिसत्तं दिस्वा आह––'सम्म मिगराज, ननु मया तुय्हं अभयं दिन्नं, कस्मा त्वं इध निपन्नो'ति। "महाराज, गब्भिणी मिगी आगन्त्वा 'मम वारं अञ्ञस्स पापेही'ति आह, न सक्का खो पन मया एकस्स मरणदुक्खं अञ्ञस्स उपरि पक्खिपितुं, स्वाहं अत्तनो जीवितं तस्सा दत्वा तस्सा सन्तकं मरणं गहेत्वा इध निपन्नो, मा अञ्ञं किञ्चि आसंकित्थ महाराजा" ति। राजा आह—सामि सुवण्णवण्णमिगराज, मया तादिसो खन्तिमेत्तानुद्दयसम्पन्नो मनुस्सेसु पि न दिट्ठपुब्बो, तेन ते पसन्नोस्मि, उट्ठेहि, तुय्हं च तस्सा च अभयं दम्मी'ति। 'द्वीहि अभये लद्धे सेसा किं करिस्सन्ति, नरिन्दा'ति? 'अवसेसानं पि अभयं दम्भि सामी'ति। 'महाराज, एवं पि उय्याने येव मिगा अभयं लभिस्सन्ति, सेसा किं करिस्सन्ती'ति? एतेसं पि अभयं दम्मि सामी'ति। 'महाराज, मिगा ताव अभयं लभन्तु, अञ्ञे चतुप्पदा द्विजगणा च किं करिस्सन्ती'ति? 'एतेसं पि अभयं दम्मि सामी'ति। 'महाराज, चतुप्पदा ताव अभयं लभन्तु, द्विजगणा ताव अभयं लभिस्सन्ति, उदके वसन्ता मच्छा किं करिस्सन्ती'ति? एतेसं पि अभयं दम्मि सीमी'ति। एवं महासत्तो राजानं सब्बसत्तानं अभयं याचित्वा उट्ठाय राजानं पञ्चसु सीलेसु पतिट्ठापेत्वा 'धम्मं चर महाराज, मातापितूसु पुत्तधीतासु ब्राह्मण-गहपतिकेसु नेगम-जानपदेसु धम्मं चरन्तो समं चरन्तो कायस्स भेदा सुगतिं सग्गं लोकं गमिस्ससी'ति रञ्ञो ओवादं दत्वा मिगगणपरिवुतो अरञ्ञे पाविसि। सापि खो मिगधेनु पुप्फकण्णिक-सदिसं पुत्तं विजायि। सो कीळमानो साखमिगस्स सन्तिकं गच्छति। अथ नं माता तस्स सन्तिके गच्छन्तं दिस्वा 'पुत्त इतो पट्ठाय मा एतस्स सन्तिकं गच्छ, निग्रोधस्सेव सन्तिकं गच्छेय्यासी'ति ओवदन्ती इमं गाथं आह—

निग्रोधं एव सेवेय्य, न साखं उपसेवसे।
निग्रोधस्मिं मतं याचे साखस्मिं जीवितं ति॥

ततो पट्ठाय च पन अभयलद्धका मिगा मनुस्सानं सस्सानि खादन्ति। मनुस्सा 'लद्धाभया इमे मिगा'ति पहरितुं वा पलापेतुं वा न विसहन्ति। ते राजङ्गने सन्निपतित्वा रञ्ञो तं अत्थं आरोचेसुं। राजा 'मया पसन्नेन निग्रोधमिगवरस्स वरो दिन्नो, अहं रज्जं जहेय्यं न च तं पटिञ्ञं, गच्छथ, न कोचि मम विजिते मिगे पहरितुं लभती'ति। निग्रोधमिगो तं पवत्तिं सुत्वा मिगगणं सन्निपातेत्वा 'इतो पट्ठाय परेसं सस्सं खादितुं न लभथा'ति मिगे वारेत्वा मनुस्सानं आरोचापेसि—'इतो पट्ठाय सस्सकारकमनुस्सा सस्सरक्खनत्थं वतिं मा करोन्तु, खेत्तं पन आविज्झित्वा पण्णसञ्ञं बन्धन्तू'ति। ततो पट्ठाय किर खेत्तेसु पण्णबन्धनसञ्ञं अतिक्कमकमिगो नाम नत्थि, अयं किर तेसं बोधिसत्ततो लद्धओवादो। एवं मिगगणं ओवदित्वा बोधिसत्तो यावतायुकं ठत्वा सद्धिं मिगेहि यथाकम्मं गतो। राजापि बोधिसत्तस्स ओवादे ठत्वा पुञ्ञानि कत्वा यथाकम्मं गतो।

संस्कृत अनुवाद

अतीते वाराणस्यां ब्रह्मदत्ते राज्यं कुर्वति बोधिसत्त्वः मृगयोन्यां प्रतिसन्धिमग्रहीत्। स मातृकुक्षितः निष्क्रामन् सुवर्णवर्णोऽभूत्, अक्षिणी चास्य मणिगुलसदृशेऽभूताम्, शृङ्गाणि रजतवर्णानि, मुखं रक्तकम्बलपुञ्जवर्णम्, हस्ताः पादपर्यन्ताः लाक्षापरिकर्मकृता इव, बालधिश्चामरस्येवाभूत् (चामर इवाभूत)। शरीरं पुनः अस्य महदश्वपोतकप्रमाणमभूत्। स पञ्चशतमृगपरिवारः अरण्ये वासमकल्पत नाम्ना न्यग्रोधमृगराजो नाम। अविदूरे पुनरस्यान्योऽपि पञ्चशतमृगपरिवारः शाखामृगो नाम वसति। सोऽपि सुवर्णवर्ण एवाभूत्। तेन समयेन वाराणसीराजो मृगवधप्रसृतो भवति, विना मांसेन न भुनक्ति, मनुष्याणां कर्मच्छेदं कृत्वा सर्वान् नैगमजानपदान् सन्निपात्य दैवसिकीं मृगयां गच्छति। मनुष्याः अचिचिन्तन्—अयं राजास्माकं कर्मच्छेदं करोति यन्नूनमस्माकमुद्याने मृगाणां निवापमुप्त्वा पानीयं सम्पाद्य बहुमृगानुद्याने प्रवेश्य द्वारं बद्ध्वा निर्यातयाम इति। ते सर्वे उद्याने निवापतृणमवरोप्योदकं सम्पाद्य द्वारं योजयित्वा नागरान् आदाय मुद्गरादिनानायुधहस्ता अरण्यं प्रविश्य मृगान् पर्येष्यन्तो मध्ये स्थितान् मृगान् ग्रहीष्याम इति योजनमात्रं स्थानं परिक्षिप्य संक्षिपन्तः न्यग्रोधमृगशाखामृगयोः वसनस्थानं मध्ये कृत्वा पर्यक्षैप्सुः। अथ तं मृगगणं दृष्ट्वा वृक्षगुल्मादींश्च भूमिं मुद्गरैः प्रहरन्तो मृगगणं ग्रहणस्थानतः निर्हृत्यासि-धनुरादीन्यायुधान्युद्गीर्य महानादं नदन्तः मृगगणमुद्यानं प्रवेश्य द्वारं पिधाय राजानमुपसङ्क्रम्य—देव! निर्बन्धं मृगयां गच्छन्तः अस्माकं कर्म न नाशयेत् अस्माभिररण्यतः मृगानानीय तवोद्यानं पूरितम्, इतः प्रस्थाय तेषां मांसानि खादयेतेति राजानमपृष्ट्वा प्राक्रमिषुः। राजा तेषां वचनं श्रुत्वोद्यानं गत्वा मृगानवलोकयन् द्वौ सुवर्णमृगौ दृष्ट्वा ताभ्यामभयमदात्। ततः प्रस्थाय पुनः कदाचित् स्वयम् गत्वैकमृगं वेधयित्वानयति, कदाचिदस्य भक्तकारको गत्वा वेधयित्वा हरति।। मृगाः धनुः दृष्ट्वैव मरणभयेन त्यक्त्वा पलायन्ते, द्वौ त्रयो

प्रहारान् लब्ध्वा क्लाम्यन्त्यपि ग्लाना अपि भवन्ति मरणमपि प्राप्नुवन्ति। मृगगणः तां प्रवृत्तिं बोधिसत्त्वायारूरुचत्। स शाखामृगं प्राक्रुश्याह—सौम्य! बहवः मृगाः नश्यन्त्येकांशेन मारयितव्ये सति, इतः प्रस्थाय मा काण्डेन मृगान् विध्यन्तु, धर्मगण्डिकास्थाने मृगाणां वारो भवतु, एकदिवसं मम परिषदः वारः प्राप्नोतु, एकदिवसं तव परिषदो वारः प्राप्नोतु, वारप्राप्तः मृगः धर्मगण्डिकायां शीर्षं स्थापयित्वा निपद्यतामेवं सति मृगाः व्रणिताः न भविष्यन्तीति। स साध्विति सम्प्रत्यैषीत्। ततः प्रस्थाय वारप्राप्त एव मृगः गत्वा धर्मगण्डिकायां ग्रीवां स्थापयित्वा निपद्यते। भक्तकारकः आगत्य तत्र निपन्नकमेव गृहीत्वा गच्छति। अथैकदिवसं शाखामृगस्य परिषदः एकस्या गर्भिणीमृग्याः वारः प्राप्नोत्। सा शाखामृगमुपसङ्क्रम्य—स्वामिन्! अहमपि गर्भिणी, पुत्रकं विजाय्य द्वौ जनौ वारं गमिष्यावः आवयोः वारमतिक्रमस्वेत्याह। सः—न शक्यं तव वारमन्येषां प्रापयितुम्, त्वमेव तव पुत्रं जनयिष्यसि गच्छेत्याह। सा तस्यान्तिकादनुग्रहमलभमाना बोधिसत्त्वमुपसङ्क्रम्य तमर्थनारूरुचत्। स तस्याः वचनं श्रुत्वा—भवतु, गच्छ त्वमहं ते वारमतिक्रामयिष्ये इति स्वयं गत्वा धर्मगण्डिकायां शीर्षं कृत्वा न्यपादि। भक्तकारः तं दृष्ट्वा—लब्धाभयः मृगराजः गण्डिकायां निपन्नः, किन्नु कारणमिति वेगेन गत्वा राज्ञ आरूरुचत्। राजा तावदेव रथमारुह्य महता परिवारेणागत्य बोधिसत्त्वं दृष्ट्वाह—सौम्य मृगराज! ननु मया तुभ्यमभयं दत्तं कस्मात्त्वमिह निपन्न इति? महाराज, गर्भिणी मृग्यागत्य 'मम वारमन्यस्य प्रापय' इत्याह, न शक्यं खलु पुनः मयैकस्य मरणदुःखमन्यस्योपरि प्रक्षेप्तुम्, सोऽहमात्मनः जीवितं तस्यै दत्त्वा तस्या अन्तिकं मरणं गृहीत्वा इह निपन्नः; मा अन्यत्किञ्चिदाशङ्कस्व महाराजेति। राजाह—स्वामिन्, सुवर्णवर्णमृगराज! मया तादृशः क्षान्तिमैत्रानुदयसम्पन्नः मनुष्येष्वपि न दृष्टपूर्वः, तेन ते प्रसन्नोऽस्मि, उत्तिष्ठ तुभ्यं च तस्यै चाभयं ददामीति। द्वाभ्यामभये लब्धे शेषाः किं करिष्यन्ति नरेन्द्र इति? अवशेषेभ्योऽप्यभयं ददामि स्वामिन्निति। महाराज! एवमप्युद्याने एव मृगाः अभयं लप्स्यन्ते, शेषाः किं करिष्यन्तीति? एतेभ्योऽप्यभयं ददामि स्वामिन्निति। महाराज! मृगास्तावदभयं लभेरन्, अन्ये चतुष्पदाः द्विजगणाश्च किं करिष्यन्तीति? एतेभ्योऽप्यभयं ददामि स्वामिन्निति। महाराज! चतुष्पदास्तावदभयं लभेरन्, द्विजगणाः तावदभयं लप्स्यन्ते, उदके वसन्तो मत्स्याः किं करिष्यन्तीति? एतेभ्योऽप्यभयं ददामि स्वामिन्निति। एवं महासत्त्वः राजानं सर्वसत्त्वानामभयं याचयित्वोत्थाय राजानं पञ्चसु शीलेषु प्रतिष्ठाप्य, धर्मं चर महाराज! मातापित्रोः पुत्रदुहित्रोः ब्राह्मणगृहपत्योः नैगमजानपदेषु धर्मं चरन् समं चरन् कायस्य भेदात् सुगतिं स्वर्गं लोकं गमिष्यतीति राज्ञेऽववादं दत्त्वा मृगगणपरिवृतः अरण्ये प्राविक्षत्। सापि खलु मृगधेनुः पुष्पकर्णिकसदृशं पुत्रं व्यजीजनत्। स क्रीडन् शाखामृगस्यान्तिकं गच्छति। अथैनं माता तस्यान्तिके गच्छन्तं दृष्ट्वा पुत्र! 'इतः प्रस्थाय मा एतस्यान्तिकं गच्छ, न्यग्रोधस्यैवान्तिकं गच्छेः' इत्यववदन्तीमां गाथामाह—

न्यग्रोधमेव सेवेत न शाखमुपसेवसे।
न्यग्रोधे मतं याच्चे शाखे जीवितमिति॥

ततः प्रस्थाय च पुनरभयलब्धका मृगाः मनुष्याणां शस्यानि खादन्ति। मनुष्याः लब्धाभया इमे मृगाः इति प्रहर्तुं वा पलायितुं वा न विषहन्ते। ते राजाङ्गणे सन्निपत्य राज्ञः तदर्थमारूरुचन्। राजा—मया प्रसन्नेन न्यग्रोधमृगवराय वरो दत्तः, अहं राज्यं जह्यां न च प्रतिज्ञाम्, गच्छत, न कश्चित् मम विजितान् मृगान् प्रहर्तुं लभते इति। न्यग्रोधमृगः तां प्रवृत्तिं श्रुत्वा मृगगणं सन्निपात्येनः प्रस्थाय परेषां शस्यं खादितुं न लप्स्यध्वमिति मृगान् वारयित्वा मनुष्यान् अरूरुचत्—इतः प्रस्थाय शस्यकारकमनुष्याः शस्यरक्षणार्थं वृतिं मा कुर्वन्तु, क्षेत्रं पुनः आविध्य पर्णसंज्ञां बध्नन्त्विति। ततः प्रस्थाय किल क्षेत्रेषु पर्णबन्धनसंज्ञामतिक्रामकमृगो नाम नास्ति, अयं किल तेषां बोधिसत्त्वतः लब्धोऽववादः। एवं मृगगणमवोध्य बोधिसत्त्वः यावदायुष्कं स्थित्वा सध्रीङ् मृगैः यथाकर्म गतः। राजापि बोधिसत्त्वस्याववादे स्थित्वा पुण्यानि कृत्वा यथाकर्म गतः।

हिन्दी अनुवाद

अतीत काल में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के शासनकाल में बोधिसत्त्व ने मृगयोनि में जन्म लिया। वह माता की कुक्षि से निकलते समय सुवर्ण वर्ण का था। इसकी आँखें मणि के समान, सींग चाँदी के वर्ण के समान, मुख लालकमल के समूह के वर्ण के समान, हाथ-पैर लाक्षा से बनाये हुए के समान, पूँछ चँवर की तरह थी और इसका शरीर विशाल बछेड़ा (घोड़े का बच्चा) के प्रमाण का था।

उस न्यग्रोधमृगराज नामक सुवर्णमृग ने पाँच सौ मृग-परिवार के साथ जंगल में अपना निवास बनाया। इसके समीप ही शाखामृग नाम का अन्य मृग भी पाँच सौ मृगपरिवार के साथ रहता था। वह भी सुवर्ण-वर्ण सदृश ही था। उस समय वाराणसी का राजा मृगवध में लगा हुआ था, वह बिना मांस के नहीं खाता था। मनुष्यों के काम छुड़वा करके सभी निगम जनपदवासियों को एकत्र कर प्रतिदिन शिकार के लिए जाता था। मनुष्यों ने सोचा—यह राजा नित्य हम लोगों के कार्यों को रुकवाता रहता है इसलिए निश्चय ही मृगों के लिए बीज बोकर पानी डालकर बहुत-से मृगों को उद्यान में प्रविष्ट कराकर द्वार को बन्द कर (हम लोग) निकल जायँ। ऐसा सोचकर सभी ने उद्यान में बोये गये तृणों को रोपकर, जल देकर, द्वार लगाकर, नगरवासियों को लेकर, मुद्गर आदि आयुधों को हाथ में लेकर अरण्य में प्रविष्ट हो मृगों को ढूँढ़ते हुए 'मध्य में स्थित मृगों को पकड़ेंगे' ऐसा सोचकर एक योजन स्थान घेरकर, एकत्र करते हुए न्यग्रोधमृग और शाखामृग के निवासस्थान को मध्य में रखकर तदनन्तर उन मृगों को घेर लिया। मृगगणों को देखकर वृक्ष-गुल्म आदि तथा भूमि पर मुद्गर द्वारा प्रहार करते हुए मृगगण को ग्रहणस्थान से निकालकर, तलवार, शक्ति धनुष आदि आयुधों को उठाकर महानाद करते हुए उस मृगगण को उद्यान में प्रविष्ट कराकर दरवाजा बन्द कर राजा के पास जाकर कहा—'हे देव! स्वेच्छया मृगया के लिए जाते हुए आप हम लोगों के दैनिक कार्य न नष्ट करें, अतः हमने जंगल से मृगों को लाकर

आपके उद्यान को पूर्ण कर दिया है, आज से आप उनका मांस खायें' इस प्रकार कहकर, बिना राजा से पूछे ही चले गये। उनके वचनों को सुनकर उद्यान में जाकर मृगों को देखते हुए दो सुवर्णमृगों को देखकर उनको अभयदान दिया। तब से राजा कभी स्वयं जाकर एक मृग मारकर लाते, कभी उसके भात बनानेवाले जाकर मारकर ले आते थे। कुछ मृग धनुष को देखकर ही मृत्यु के भय से (उस स्थान को) छोड़कर भाग जाते थे, दो-तीन प्रहारों को पाकर दुःखी होते थे, डर जाते थे तथा मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते थे। मृगगण ने यह प्रवृत्ति अन्त में बोधिसत्व से कही। उसने शाखामृग को बुलाकर कहा—सौम्य ! एक बारगी मार देने पर बहुत-से मृग नष्ट हो जाते हैं, (अतः) आज से काण्ड से मृगों को न मारें, धर्मगण्डिकास्थान पर मृगों का एक दिन (निश्चित) हो जाय, एक दिन मेरे परिषद् के मृग का वार प्राप्त हो, और एक दिन आपकी परिषद् के मृग का। वारवाला मृग धर्मगण्डिका पर सिर रखकर पड़ जायें, ऐसा होने पर सब मृग घायल नहीं होंगे। उसने 'साधु' ऐसा कहकर उन्हें भेज दिया। तभी से अपना वार आने पर ही एक मृग जाकर धर्मगण्डिका पर गर्दन रख करके पड़ जाता था, भोजन बनानेवाला आकर वहाँ पड़े हुए को पकड़कर ले जाता था।

एक दिन शाखामृग के परिषद् की एक गर्भिणी मृगी की बारी आयी। उसने शाखामृग के पास जाकर कहा, 'हे स्वामिन् ! मैं अभी गर्भिणी हूँ, पुत्र उत्पन्न कर हम दोनों लोग बारी के दिन जायँगे, इसलिए आज हम लोगों की बारी का अतिक्रमण कर दें।' उसने 'तुम्हारी बारी अन्यों को नहीं प्राप्त करायी जा सकती है, तुम्हीं अपने पुत्र को उत्पन्न करोगी, जाओ' ऐसा कहा। उसने उससे अनुग्रह न मिलने पर बोधिसत्व के पास जाकर निवेदन किया। उसने उसके वचन को सुनकर, अच्छा जाओ, मैं तुम्हारे वार का अतिक्रमण कराऊँगा', ऐसा कहकर स्वयं जाकर धर्मगण्डिका पर शिर करके पड़ गया। रसोइये ने उसे देखकर 'निर्भय मृगराज गण्डिका पर पड़े हुए हैं, क्या कारण है ?' ऐसा सोचकर शीघ्र जाकर राजा से कहा। राजा ने उसी समय रथ पर चढ़कर महान् परिवार के साथ आकर बोधिसत्त्व को देखकर कहा—'सौम्य मृगराज ! मैंने तुम्हें अभयदान दिया है तो भी आप यहाँ क्यों पड़े हुए हैं।' 'हे महाराज ! 'मेरी बारी अन्य को प्राप्त कराओ', ऐसा एक गर्भिणी मृगी ने आकर मुझसे कहा, एक के मरण के दुःख को दूसरे के ऊपर नहीं फेंका जा सकता है, (अतः) मैं अपने जीवन को उसे देकर उसके मरण को स्वयं स्वीकार कर यहाँ पड़ा हुआ हूँ, हे महाराज ! आप अन्य किसी बात की आशङ्का न करें।" राजा ने कहा—'स्वामिन् ! हे सुवर्णवर्ण मृगराज ! मैंने इसके पूर्व ऐसी क्षमा, मैत्री और दया से युक्त (किसी को) मनुष्यों में भी नहीं देखा था, इसलिए तुम पर प्रसन्न हूँ, उठो, उस मृगी को तथा तुम्हें अभयदान देता हूँ। दोनों के अभय प्राप्त कर लेने पर हे नरेन्द्र ! शेष क्या करेंगे ? हे स्वामी, अवशिष्टों को भी अभयदान दूँगा। हे महाराज ! इस प्रकार उद्यान में ही मृग अभयप्राप्त करेंगे, शेष क्या करेंगे ? हे स्वामी ! इन्हें भी अभयदान दूँगा। हे महाराज ! मृगों ने तो अभयदान प्राप्त कर लिया, तो भी अन्य चतुष्पद एवं पक्षिगण

क्या करेंगे ? हे स्वामी ! इन्हें भी अभयदान दूँगा। हे महाराज ! चतुष्पदों ने अभय प्राप्त कर लिया, पक्षिगण भी अभय प्राप्त कर लेंगे, (लेकिन) जल में निवास करनेवाली मछलियाँ क्या करेंगी ? हे स्वामी ! उनको भी अभयदान दूँगा। इस प्रकार महासत्त्व ने राजा से सभी सत्त्वों के लिए अभयदान माँगकर उठकर राजा को पाँच शीलों में प्रतिष्ठापित कर, 'हे महाराज ! आप धर्म का आचरण करें, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, ब्राह्मण-गृहपति एवं निगम तथा जनपदवासियों में धर्म का आचरण करते हुए, समान व्यवहार करते हुए शरीरपात के अनन्तर सुगतिवाले स्वर्ग-लोक को प्राप्त करेंगे। इस प्रकार राजा को निर्देश देकर मृगगणों से घिरे हुए, अरण्य में प्रवेश किया। उस मृग-धेनु ने भी पुष्पकर्णिक की भाँति पुत्र को उत्पन्न किया। वह कभी खेलता-खेलता शाखामृग के पास पहुँच गया। उसके पास जाते हुए (पुत्र) को देखकर माता ने,—हे पुत्र ! यहाँ से इसके पास मत जाया करो, न्यग्रोध के पास ही जाया करो, इस प्रकार कहते हुए यह गाथा कही—

न्यग्रोध की ही सेवा करनी चाहिए शाखा (मृग) की नहीं। (मैं तुमसे) माँगती (चाहती) हूँ कि न्यग्रोध से मत (राय) ग्रहण करो और शाखामृग से जीवन (इस के साथ जीवन) निर्वाह करो।

इस घटना के बाद वे निर्भय मृग मनुष्यों के अन्न (खेती) को खाने लगे। मनुष्यों ने सोचा—ये मृग निर्भय हैं, इनको मारा या भगाया नहीं जा सकता। अन्त में उन्होंने राजा के आँगन में एकत्र हो यह बात कही। राजा ने कहा—प्रसन्न होकर मैंने न्यग्रोधमृगराज को वर दे दिया है, मैं राज्य छोड़ सकता हूँ (किन्तु) प्रतिज्ञा नहीं। न्यग्रोधमृग ने उस बातचीत को सुनकर मृगगणों को एकत्र कर, 'आज से तुम दूसरों के खेत को मत खाओ' इस प्रकार मृगों को मनाकर मनुष्यों से कहा—आज से खेती करनेवाले मनुष्य खेत की रखवाली न करें। खेत को बाँधकर पत्तियों का निशान बाँध दें। तभी से मृग पत्ते के बँधे निशान का अतिक्रमण नहीं करते। यह निर्देश इन्हें बोधिसत्त्व से प्राप्त हुआ। इस प्रकार मृगगण से कहकर बोधिसत्त्व मृगों के साथ अपनी आयुभर जीकर यथाकर्म (दूसरी योनि में) चले गये। राजा भी बोधि-सत्त्व के अववाद में स्थित रहकर पुण्यसम्पादन कर यथाकर्म (दूसरी योनि में) चले गये (अपने कर्म के अनुसार सद्‌गति को प्राप्त हुए)।

पालिसंगहो

२

बुद्धचरितं

मायादेविया सुपिनं

तदा किर कपिलवत्थुनगरे आसाळ्हीनक्खत्तं घुट्ठं अहोसि। महाजनो नक्खत्तं कीळति। महामायादेवी पुरे पुण्णमाय सत्तमदिवसतो पट्ठाय विगतसुरापानं मालागन्धविभूतिसम्पन्नं नक्खत्तकीळं अनुभवमाना सत्तमदिवसे पातो व उट्ठाय गन्धोदकेन नहायित्वा चत्तारि सतसहस्सानि विस्सज्जेत्वा महादानं दत्वा सब्बालंकारविभूसिता वरभोजनं भुञ्जित्वा उपोसथङ्गानि अधिट्ठाय अलंकतपटियत्तं सिरिगब्भं पविसित्वा सिरिसयने निपन्ना निद्दं ओक्कममाना इदं सुपिनं अदस्स—चत्तारो किर नं महाराजानो सयनेनेव सद्धिं उक्खिपित्वा हिमवन्तं नेत्वा सट्ठियोजनिके मनोसिलातले सत्तयोजनिकस्स महासालरुक्खस्स हेट्ठा ठपेत्वा एकमन्तं अट्ठंसु। अथ नेसं देवियो आगन्त्वा देविं अनोतत्तदहं नेत्वा मानुसमलहरणत्थं नहापेत्वा दिब्बवत्थं निवासापेत्वा गन्धेहि विलिम्पापेत्वा दिब्बपुप्फानि पिलन्धापेत्वा—ततो अविदूरे रजतपब्बतो, तस्स अन्तो कनकविमानं अत्थि—तत्थ पाचीनसीसकं दिब्बसयनं पञ्ञापेत्वा निपज्जापेसुं। अथ बोधिसत्तो सेतवरवारणो हुत्वा—ततो अविदूरे एको सुवण्णपब्बतो—तत्थ चरित्वा ततो ओरुय्ह रजतपब्बतं अभिरुहित्वा उत्तरदिसतो आगम्म रजतदामवण्णाय सोण्डाय सेतपदुमं गहेत्वा कोञ्चनादं नदित्वा कनकविमानं पविसित्वा मातुसयनं तिक्खत्तुं पदक्खिणं कत्वा दक्खिणपस्सं ताळेत्वा कुच्छिं पविट्ठसदिसो अहोसि। एवं उत्तरासाळ्हनक्खत्तेन पटिसन्धिं गण्हि। पुनदिवसे पबुद्धा देवी तं सुपिनं रञ्ञो आरोचेसि। राजा चतुसट्ठिमत्ते ब्राह्मणपामोक्खे पक्कोसापेत्वा हरितुपलित्ताय लाजादीहि कतमङ्गलसक्काराय भूमिया महारहानि आसनानि पञ्ञापेत्वा तत्थ निसिन्नानं ब्राह्मणानं सप्पिमधुसक्कराभिसङ्खतस्स वरपायसस्स सुवण्णरजतपातियो पूरेत्वा सुवण्णरजतपातीहि येव पटिकुज्जेत्वा अदासि, अञ्ञेहि च अहतवत्थकपिलगाविदानादीहि ते सन्तप्पेसि। अथ तेसं सब्बकामेहि सन्तप्पितानं सुपिनं आरोचेत्वा—'किं भविस्सती'ति पुच्छि। ब्राह्मणा आहंसु—'मा चिन्तयि महाराज, देविया ते कुच्छिम्हि गब्भो

पतिट्ठितो, सो च खो पुरिसगब्भो न इत्थिगब्भो, पुत्तो ते भविस्सति, सो सचे अगारं अज्झावसिस्सति राजा भविस्सति चक्कवत्ती, सचे अगारा निक्खम्म पब्बजिस्सति बुद्धो भविस्सति लोके विवट्टच्छदो' ति।

—निदानकथा जातक

संस्कृत अनुवाद

तदा किल कपिलवस्तुनगरे आषाढनक्षत्रं घुष्टमासीत्। महाजनो नक्षत्रं क्रीडति। महामायादेवी पुरः पूर्णिमायाः सप्तमदिवसतः प्रस्थाय विगतसुरापानां मालागन्धविभूतिसम्पन्नां नक्षत्रक्रीडामनुभवन्ती सप्तमदिवसे प्रातरेवोत्थाय गन्धोदकेन स्नात्वा चत्वारि शत सहस्राणि विसृज्य महादानं दत्त्वा सर्वालङ्कारविभूषिता वरभोजनं भुङ्क्त्वोपवसथाङ्गान्यधिष्ठायालङ्कृतपर्यासं श्रीगर्भं प्रविश्य श्रीशयने निपन्ना निद्रामवक्रममाणेमं स्वप्नमद्राक्षीत्—चत्वारः किल नूनं महाराजाः शयनेनैव सश्रीङ्ङुत्क्षिप्य हिमवन्तं नीत्वा षष्टियोजनिके मनःशिलातले सप्तयोजनिकस्य महाशालवृक्षस्याधस्तात् स्थापयित्वैकस्मिन्नन्तेऽस्थुः। अथ निशायां देव्यः आगत्य देवीमनवतप्तहृदं नीत्वा मानुषमलहरणार्थं स्नापयित्वा दिव्यवस्त्रं निवास्य गन्धैः विलिप्य दिव्यपुष्पाणि पिनाह्य ततोऽविदूरे रजतपर्वतः तस्यान्ते कनक विमानमस्ति तत्र प्राचीनशीर्षकं दिव्यशयनं प्रज्ञाप्य न्यपादिषत्। अथ बोधिसत्त्वः श्वेतवरवारणो भूत्वा—ततोऽविदूरे एकः सुवर्णपर्वतः तत्र चरित्वा ततोऽवरुह्य रजतपर्वतमभिरुह्योत्तरदिशातः आगत्य रजतदामवर्णया शुण्डया श्वेतपद्मं गृहीत्वा क्रौञ्चनादं नदित्वा कनकविमानं प्रविश्य मातुःशयनं त्रिः कृत्वः प्रदक्षिणां कृत्वा दक्षिणपार्श्वं ताडयित्वा कुक्षिं प्रविष्टसदृशोऽभूत्। एवमुत्तराषाढनक्षत्रेण प्रतिसन्धिमग्रहीत्। पुनः दिवसे प्रबुद्धा देवी तत्स्वप्नं राजानमारूरुचत्। राजा चतुष्षष्टिमात्रान् ब्राह्मणप्रमुखान् प्राकुश्य हरितयवानुपस्थाय लाजादिभिः कृतमङ्गलसत्कारायां भूमौ महार्हाण्यासनानि प्रज्ञाप्य तत्र निषण्णेभ्यो ब्राह्मणेभ्यः सर्पिमधुशर्कराभिः संस्कृतस्य वरपायसस्य सुवर्णरजतपात्रीः पूरयित्वा सुवर्णरजतपात्रीभिरेव प्रतिकुज्यादाद्, अन्यैश्चाहतवस्त्रकपिलगोदानादिभिस्तान् समतीतृपत्। अथ तेषां सर्वकामैः सन्तर्पितानां स्वप्नमारोच्य—किं भविष्यतीत्यप्राक्षीत्। ब्राह्मणाः अवोचन्—मा चिन्तय महाराज, देव्यास्ते कुक्ष्यां गर्भः प्रतिष्ठितः, स च खलु पुरुषगर्भः, न स्त्रीगर्भः, पुत्रस्ते भविष्यति चेदागारमध्यावत्स्यति राजा भविष्यति चक्रवर्ती, चेदागारात् निष्क्रम्य प्रव्रजिष्यति बुद्धो भविष्यति लोके विवर्तच्छद इति।

हिन्दी अनुवाद

उस समय कपिलवस्तु नगर में आषाढ़ नक्षत्र था। महाजन लोग (बड़े लोग) नक्षत्रक्रीड़ा कर रहे थे। पूर्णिमा से सात दिन पूर्व से ही सुरापान को छोड़कर माला, सुगन्धि आदि ऐश्वर्य से सम्पन्न हो, नक्षत्रक्रीड़ा का अनुभव करती हुई सातवें दिन प्रातःकाल ही उठकर सुगन्धि-जल से स्नान कर, चार सौ हजार मुद्रा विसर्जित कर महादान देकर सम्पूर्ण अलंकारों से विभूषित होकर पवित्र भोजन करके

श्रीगर्भ में प्रवेश कर श्रीशयन पर निद्रामग्न महामाया देवी ने यह स्वप्न देखा—चार महाराजा उसको पलङ्ग के साथ ही उठाकर हिमवान् पर्वत पर ले जाकर, साठ योजन लम्बे मनःशिलातल पर सात योजनवाले महाशाल वृक्ष के नीचे रखकर एक तरफ बैठ गये। तदनन्तर इनकी देवियों ने आकर, देवी को अनवतप्त ह्रद (तालाब) में ले जाकर मानुषसुलभ मल को हटाने के लिए स्नान कराकर, दिव्य वस्त्र पहनाकर, सुगन्धि पदार्थों का लेपकर, दिव्य पुष्पों को पहनाकर उस ह्रद के समीप ही रजत पर्वत के नीचे कनकविमान के पूर्वी कोण में दिव्य शयन (आसन) लगा दिया। तब बोधिसत्त्व श्रेष्ठ श्वेत हाथी बनकर समीपस्थ एक सुवर्ण पर्वत से नीचे उतरकर, पास के रजत पर्वत पर चढ़कर, उत्तर दिशा से आकर, रजत की रस्सी के वर्णवाले सूँड़ से श्वेतकमल को ग्रहण कर, क्रौञ्चनाद करके कनकविमान में प्रविष्ट हो, माता के शयन की तीन बार प्रदक्षिणा कर, दाहिने पार्श्वभाग को आहत कर कुक्षि में प्रविष्ट की भाँति हो गये। इस प्रकार उन्होंने उत्तराषाढ़ नक्षत्र से ही प्रतिसन्धि प्राप्त की। दूसरे दिन प्रातः जगकर देवी ने उस स्वप्न को राजा से निवेदित किया। राजा ने चौंसठ प्रमुख ब्राह्मणों को बुलाकर उनका हरित यव तथा लाजा आदि मंगल सत्कार से युक्त भूमि पर बहूमूल्य आसनों को बिछाकर, उन पर बैठे हुए उन ब्राह्मणों को घी, मधु, शक्कर आदि से सुसंस्कृत खीर से सुवर्ण एवं रजत की थालियों को पूर्ण कर सुवर्ण एवं रजत की थालियों से ही ढँककर दे दिया तथा अन्य नूतन वस्त्र, कपिला गौ आदि के दान से उन्हें सन्तुष्ट किया।

तदनन्तर सम्पूर्ण कामनाओं से सन्तुष्ट उन ब्राह्मणों से देवी का वह स्वप्न सुनाकर 'क्या होगा' ऐसा पूछा। ब्राह्मणों ने कहा—हे महाराज! आप चिन्ता न करें, आपकी देवी की कुक्षि में गर्भ प्रतिष्ठित हो गया है, वह पुरुषगर्भ है, स्त्रीगर्भ नहीं। आपको पुत्र होगा। यदि वह घर पर रहेगा तो चक्रवर्ती राजा होगा तथा यदि घर से निकल कर प्रव्रज्या धारण करेगा तो संसार में अज्ञान के आवरण से रहित बुद्ध होगा।

———

गोतमस्स उप्पादो

महामाया देवी पत्तेन तेलं विय दसमासे कुच्छिया बोधिसत्तं परिहरित्वा परिपुण्णगब्भा ञातिघरं गन्तुकामा सुद्धोदनमहाराजस्स आरोचेसि—'इच्छामहं देव कुलसन्तकं देवदहनगरं गन्तुं' ति। राजा 'साधू'ति सम्पटिच्छित्वा कपिलवत्थुतो याव देवदहनगरा मग्गं समं कारेत्वा कदलिपुण्णघटधजपताकादीहि अलंकारापेत्वा देविं सोवण्णसिविकाय निसीदापेत्वा अमच्चसहस्सेन उक्खिपापेत्वा महन्तेन परिवारेन पेसेसि। द्विन्नं पन नगरानं अन्तरे उभयनगरवासीनम्पि लुम्बिनीवनं नाम मङ्गलसालवनं अत्थि। तस्मिं समये मूलतो पट्ठाय याव अग्गसाखा सब्बं एकफालिफुल्लं अहोसि, साखन्तरेहि चेव पुप्फन्तरेहि च पञ्चवण्णभमरगणा नानप्पकारा च सकुनसङ्घा मधुरस्सरेन विकूजन्ता विचरन्ति। सकलं लुम्बिनीवनं चित्तलतावनसदिसं महानुभावस्स रञ्ञो सुसज्जित-आपानमण्डलं विय अहोसि। देविया तं दिस्वा सालवनकीळं कीळितुकामता उदपादि। अमच्चा देविं गहेत्वा सालवनं पविसिंसु। सा मङ्गलसालमूलं गन्त्वा सालसाखायं गण्हितुकामा अहोसि। सालसाखा सुसेदितवेत्तग्गं विय ओनमित्वा देविया हत्थपथं उपगच्छि। सा हत्थं पसारेत्वा साखं अग्गहेसि। तावदेव चस्सा कम्मजवाता चलिंसु। अथस्सा साणिं परिक्खिपित्वा महाजनो पटिक्कमि। सालसाखं गहेत्वा तिट्ठमानाय एव चस्सा गब्भवुट्ठानं अहोसि। तं खणं येव चत्तारो पि सुद्धचित्ता महाब्रह्मानो सुवण्णजालं आदाय सम्पत्ता, तेन सुवण्णजालेन बोधिसत्तं सम्पटिच्छित्वा मातुपुरितो ठपेत्वा—'अत्तमना देवि होहि, महेसक्खो ते पुत्तो उप्पन्नो'ति आहंसु। यथा पन अञ्ञे सत्ता मातुकुच्छितो निक्खमन्ता पटिक्कूलेन असुचिना मक्खिता निक्खमन्ति न एवं बोधिसत्तो। बोधिसत्तो पन धम्मासनतो ओतरन्तो धम्मकथिको विय निस्सेणितो ओतरन्तो पुरिसो विय च द्वे च हत्थे द्वे च पादे पसारेत्वा ठितको मातुकुच्छिसम्भवेन केनचि असुचिना अमक्खितो सुद्धो विसदो कासिकवत्थे निक्खित्तमणिरतनं विय जोतन्तो मातुकुच्छितो निक्खमि। एवं सन्तेपि बोधिसत्तस्स च बोधिसत्त मातुया च सक्कारत्थं आकासतो द्वे उदकधारा निक्खमित्वा बोधिसत्तस्स च मातु च'स्स सरीरे उतुं गाहापेसुं।

—निदानकथा जात

संस्कृत अनुवाद

महामायादेवी पात्रेण तैलमिव दशमासान् कुक्षेः बोधिसत्त्वं परिहृत्य परिपूर्णगर्भा ज्ञातिगृहं गन्तुकामा शुद्धोदनमहाराजमारूरुचत्—इच्छाम्यहं देव ! कुलसत्ता

(कुलसम्बन्धि) देवदहनगरं गन्तुमिति। राजा 'साधु' इति सम्प्रतीष्य कपिलवस्तुतः यावद्देवदहनगरस्य मार्गं समं कारयित्वा कदलीपूर्णघटध्वजपताकादिभिरलङ्कृत्य देवीं सौवर्णशिविकायां निषाद्यामात्यसहस्रेणोत्क्षेप्य महता परिवारेण प्रैषयत्। द्वयोः पुनः नगरयोरन्तरे उभयनगरवासिनामपि लुम्बिनीवनं नाम मङ्गलशालवनमस्ति। तस्मिं समये मूलतः प्रस्थाय यावदग्रशाखां सर्वमेकफलितफुल्लमभूत्। शाखान्तरेभ्यश्चैव पुष्पान्तरेभ्यश्च पञ्चवर्णभ्रमरगणाः नानाप्रकाराश्च शकुनिसङ्घाः मधुरस्वरेण विकूजन्तः विचरन्ति। सकलं लुम्बिनीवनं चित्रलतावनसदृशं महानुभावस्य राज्ञः सुसज्जितापान-मण्डलमिवाभूत्। देव्याः तद्दृष्ट्वा शालवनक्रीडां क्रीडितुकामतोदपादि। अमात्या देवीं गृहीत्वा शालवनं प्राविक्षन्। सा मङ्गलशालमूलं गत्वा शालशाखां गृहीतुकामाभूत्। शालशाखा सुस्वेदितवेत्राग्रमिवावनम्य देव्याः हस्तपथमुपागमत्। सा हस्तं प्रसार्य शाखामग्रहीत् तावदेवास्याः कर्मजवाता अचालिषुः। अथास्याः शाणीं परिक्षिप्य महाजनः प्रत्यक्रमीत्। शालशाखां गृहीत्वा तिष्ठन्त्या एव चास्याः गर्भोत्थानमभूत्। तत्क्षणमेव चत्वारोऽपि शुद्धचित्ताः महाब्रह्माणः सुवर्णजालमादाय सम्प्राप्ताः, तेन सुवर्णजालेन बोधिसत्त्वं सम्प्रतीष्य मातरं पुरतः स्थापयित्वा—आप्तमनस्का देवि! भव, महेशाक्षस्ते पुत्र उत्पन्न इत्याहुः। यथा पुनः अन्ये सत्त्वाः मातुः कुक्षितः निष्क्राम्यन्तः प्रतिकूलेनाशुचिना म्रक्षिताः निष्क्राम्यन्ति नैवं बोधिसत्त्वः। बोधिसत्त्वः पुनः धर्मासनत अवतरन् धर्मकथिक इव निःश्रेणितः अवतरन् पुरुष इव च द्वौ हस्तौ द्वौ च पादौ प्रसार्य स्थितकः मातुकुक्षिसम्भवेन केनचिदशुचिना अम्रक्षितः शुद्धः विशदः काशिकवस्त्रे निक्षिप्तमणिरत्नमिव द्योतमानः मातृकुक्षितः निरक्रमीत्। एवं सत्यपि बोधिसत्त्वस्य च बोधिसत्त्वमातुश्च सत्कारार्थमाकाशतः द्वे उदकधारे निष्क्रम्य बोधिसत्त्वस्य च मातुश्चास्य शरीरे ऋतुमजीग्रहिष्टाम्।

हिन्दी अनुवाद

महामाया देवी ने पात्र से तैल की भाँति दसवें महीने में बोधिसत्त्व को कुक्षि से छोड़कर (गर्भ के कुछ शिथिल होने पर) पूर्ण गर्भवाली होकर भाई-बन्धुओं के घर जाने की इच्छा से युक्त हो महाराज शुद्धोदन से निवेदन किया—हे देव! मैं अपने कुल के लोगों के निवासस्थान देवदहनगर जाना चाहती हूँ। 'अच्छा' ऐसा कहकर राजा ने कपिलवस्तु से देवदेहनगर तक मार्ग को समतल करवाकर कदली, पूर्णघट, ध्वज एवं पताका आदि से अलंकृत कर देवी को सुवर्णमयी पालकी (शिविका) में बैठाकर हजार अमात्यों से युक्त एक बहुत बड़े परिवार के साथ भेजा। दोनों नगरों के बीच दोनों ही नगरवासियों का उपभोग्य लुम्बिनी वन नाम का मङ्गलशालवन है। उस समय वह वन वृक्ष की जड़ से अग्र भाग तक सभी तरह से फूला-फला था। शाखाओं और फूलों पर पाँच वर्णवाले भ्रमरसमूह, नाना प्रकार के पक्षिसमुदाय मधुर-स्वर से कूजन करते हुए विचरण कर रहे थे। सम्पूर्ण लुम्बिनी वन महानुभाव राजा के सुसज्जित आपानमण्डल की भाँति, चित्रलता वन के सदृश हो गया था। उसको देखकर

देवी के मन में शालवन की क्रीड़ा करने की इच्छा उत्पन्न हो गयी। अतः मन्त्रिगण देवी को लेकर शालवन में प्रविष्ट हुए। वह मङ्गलशालवन में जाकर शाखा को पकड़ने की इच्छा करने लगीं। शालवृक्ष की शाखा हरे तथा कोमल बेंत के अग्रभाग की तरह झुककर देवी के हाथ में आ गयी। उसने हाथ फैलाकर शालशाखा को पकड़ लिया। उसी समय उसके उदर में प्रसव-वायु चलने लगी। तब उसके चारों ओर वस्त्र का घेरा डालकर महाजन हट गये। शालशाखा को पकड़कर बैठते हुए ही इसका गर्भोत्थान (प्रसव) हुआ। उसी क्षण चारों शुद्धचित्त महाब्रह्मा सुवर्ण-जाल को लेकर उपस्थित हो गये। उस सुवर्ण-जाल से बोधिसत्त्व को ढककर माता के आगे रखकर—हे देवि! आप घबराएँ नहीं, आपको राजचिह्नयुक्त पुत्र उत्पन्न हुआ है, ऐसा कहा। जिस प्रकार अन्य जीव माता की कुक्षि से निकलते हुए प्रतिकूल अपवित्र (तत्त्व) से लिपे हुए निकलते हैं, इस तरह बोधिसत्त्व नहीं हुए। बोधिसत्त्व धर्म के आसन से उतरते हुए धर्मोपदेशक की भाँति बिना किसी श्रेणी से अवतरित होते हुए पुरुष की भाँति दो हाथ और दो पैरों को फैलाकर स्थित, माता की कुक्षि से उत्पन्न होते समय किसी अपवित्र तत्त्व से रहित शुद्ध, विशद तथा काशिक (रेशमी) वस्त्रों में रखे गये मणिरत्न की भाँति शोभित होते हुए माता की कुक्षि से निकले। ऐसा होने पर भी बोधिसत्त्व एवं उनकी माता के सत्कार के लिए आकाश से दो जल-धाराओं ने निकलकर बोधिसत्त्व एवं उनकी माता के शरीर के ऋतुजन्य (प्रसवजन्य लौकिक) मल को धो डाला।

———

महाभिनिक्खमनं

तस्मिं समये 'राहुलमाता पुत्तं विजाता' ति सुत्वा सुद्धोदनमहाराजा 'पुत्तस्स मे तुट्ठिं निवेदेथा'ति सासनं पहिणि। बोधिसत्तो तं सुत्वा 'राहुलो जातो, बन्धनं जातं' ति आह। राजा 'किं मे पुत्तो अवचा' ति पुच्छित्वा तं वचनं सुत्वा 'इतो पट्ठाय मे नत्तु राहुलकुमारो त्वेव नामं होतू' ति। बोधिसत्तो पि खो रथवरं आरुय्ह महन्तेन यसेन अतिमनोरमेन सिरिसोभग्गेन नगरं पाविसि। तस्मिं समये किसागोतमी नाम खत्तियकञ्ञा उपरिपासादवरतलगता नगरं पदक्खिणं कुरुमानस्स बोधिसत्तस्स रूपसिरिं दिस्वा पीतिसोमनस्सजाता इमं उदानं उदानेसि—

'निब्बुता नून सा माता, निब्बुतो नून सो पिता।
निब्बुता नून सा नारी, यस्सायं ईदिसो पती'ति ॥

बोधिसत्तो तं सुत्वा चिन्तेसि—'अयं एवं आह—एवरूपं अत्तभावं पस्सन्तिया मातुहदयं निब्बायति, पितुहदयं निब्बायति, पजापतिहदयं निब्बायति। कस्मिं नु खो निब्बुते हदयं निब्बुतं नाम होती' ति ? अथस्स किलेसेसु विरत्तमानसस्स एतदहोसि—'रागग्गिम्हि निब्बुते निब्बुतं नाम होति, दोसग्गिम्हि, मोहग्गिम्हि निब्बुते निब्बुतं नाम होति, मानदिट्ठि-आदिसु सब्बकिलेसदरथेसु निब्बुतेसु निब्बुतं नाम होति, अयं मे सुस्सवनं सावेसि, अहं हि निब्बानं गवेसन्तो चरामि। अज्जेव मया घरावासं छड्डेत्वा निक्खम्म पब्बजित्वा निब्बानं गवेसितुं वट्टति। अयं इमिस्सा आचरियभागो होतू' ति कण्ठतो ओमुञ्चित्वा किसागोतमिया सतसहस्सग्घनकं मुत्ताहारं पेसेसि। सा 'सिद्धत्थकुमारो मयि पटिबद्धचित्तो हुत्वा पण्णाकारं पेसेती' ति सोमनस्सजाता अहोसि। बोधिसत्तो पि महन्तेन सिरिसोभग्गेन अत्तनो पासादं अभिरुहित्वा सिरिसयने निपज्जि। तावदेव नं सब्बालङ्कारपटिमण्डिता नच्चगीतादिसु सुसिक्खिता देवकञ्ञा विय रूपप्पत्ता इत्थियो नानातुरियानि गहेत्वा सम्परिवारयित्वा अभिरमापेन्तियो नच्चगीतवादितानि पयोजयिंसु। बोधिसत्तो किलेसेसु विरत्तचित्तताय नच्चादिसु अनभिरतो मुहुत्तं निद्दं ओक्कमि। तापि इत्थियो 'यस्सत्थाय मयं नच्चादीनि पयोजयाम सो निद्दं उपगतो, इदानि किमत्थं किलमामा' ति गहितगहितानि तुरियानि अज्झोत्थरित्वा निपज्जिंसु। गन्धतेलप्पदीपा झायन्ति। बोधिसत्तो पबुज्झित्वा सयनपिट्ठे पल्लङ्केन निसिन्नो अद्दस-ता इत्थियो तुरियभण्डानि अवत्थरित्वा निद्दायन्तियो एकच्चा पग्घरितखेळा लालाकिलिन्नगता, एकच्चा दन्ते खादन्तियो, एकच्चा काकच्छन्तियो, एकच्चा विप्पलपन्तियो, एकच्चा विवटमुखा, एकच्चा अपगतवत्था पकट-

बीभच्छसम्बाधट्ठाना। सो तासं तं विप्पकारं दिस्वा भिय्योसोमत्ताय कामेसु विरत्तो अहोसि। तस्स अलंकतपटियत्तं सक्कभवनसदिसं पि तं महातलं विप्पविद्धनानाकुणपभरितं आमकसुसानं विय उपट्ठासि। तयो भवा आदित्तगेहसदिसा विय खायिंसु। 'उपद्दुतं वत भो, उपस्सट्ठं वत भो' ति उदानं पवत्ति। अतिविय पब्बज्जाय चित्तं नामि। सो 'अज्जेव मया महाभिनिक्खमनं निक्खमितुं वट्टति' ति सयना उट्ठाय द्वारसमीपं गन्त्वा—'को एत्था' ति आह। उम्मारे सीसं कत्वा निपन्नो छन्नो 'अहं अय्यपुत्त छन्नो' ति आह। अहं अज्ज महाभिनिक्खमनं निक्खमितुकामो, एकं मे अस्सं कप्पेही'ति। सो 'साधु देवा'ति अस्सभण्डकं गहेत्वा अस्ससालं गन्त्वा गन्धतेलप्पदीपेसु जलन्तेसु सुमनपट्टवितानस्स हेट्ठा रमणीये भूमिभागे ठितं कन्थकं अस्सराजानं दिस्वा 'अज्ज मया इमं एव कप्पेतुं वट्टती'ति कन्थकं कप्पेसि। सो कप्पियमानो व अञ्ञासि—'अयं कप्पना अतिगाळ्हा, अञ्ञेसु दिवसेसु उय्यानकीळादिगमने कप्पना विय न होति, मय्हं अय्यपुत्तो महाभिनिक्खमनं निक्खमितुकामो भविस्सती'ति। ततो तुट्ठमानसो महाहसितं हसि। सो सद्दो सकलनगरं पत्थरित्वा गच्छेय्य, देवता पन तं सद्दं निरुम्भित्वा न कस्सचि सोतुं अदंसु। बोधिसत्तो पि खो छन्नं पेसेत्वा व 'पुत्तं ताव पस्सिस्सामी' ति चिन्तेत्वा निसिन्नपल्लङ्कतो वुट्ठाय राहुलमाताय वसनट्ठानं गन्त्वा गब्भद्वारं विवरि। तस्मिं खणे अन्तोगब्भे गन्धतेलप्पदीपो झायति। राहुलमाता सुमनमल्लिकादीनं पुप्फानं अम्मणमत्तेन अभिप्पकिण्णसयने पुत्तस्स मत्थके हत्थं ठपेत्वा निद्दायति। बोधिसत्तो उम्मारे पादं ठपेत्वा ठितको व ओलोकेत्वा—'स चाहं देविया हत्थं अपनेत्वा मम पुत्तं गण्हिस्सामि देवी पबुज्झिस्सति, एवं मे गमनन्तरायो भविस्सति, बुद्धो हुत्वा व आगन्त्वा पस्सिस्सामी' ति पासादतलतो ओतरि।

—निदानकथा जातक

संस्कृत अनुवाद

तस्मिन् समये राहुलमाता पुत्रं व्यजायतेति श्रुत्वा शुद्धोदनमहाराजः—पुत्रस्य मे तुष्टिं निवेदयतेति शासनं प्रेषीत्। बोधिसत्त्वः तच्छ्रुत्वा 'राहुलो जातः, बन्धनं जातम्' इत्याह। राजा—किं मे पुत्रः अवोचदिति पृष्ट्वा तद्वचनं श्रुत्वा 'इतः प्रस्थाय मे नप्तुः राहुलकुमारस्त्वेव नाम भवत्विति। बोधिसत्त्वोऽपि खलु रथवरमारुह्य महता यशसातिमनोरमेण श्रीसौभाग्येन नगरं प्राविक्षत्। तस्मिन् समये कृशागोतमी नाम क्षत्रियकन्योपरिप्रासादावरतलगता नगरं प्रदक्षिणां कुर्वतः बोधिसत्त्वस्य रूपश्रियं दृष्ट्वा प्रीतिसौमनस्यजातेदमवदानमवादीत्—

'निर्वृत्ता नूनं सा माता, निर्वृतः नूनं स पिता।
निर्वृत्ता नूनं सा नारी यस्या अयमीदृशः पतिः' ॥ इति

बोधिसत्त्वः तच्छ्रुत्वाचिचिन्तत्—इयमेवमाह—एवं रूपमात्मभावं पश्यन्त्या मातुर्हृदयं निर्वायते, पितुर्हृदयं निर्वायते, प्रजापतिहृदयं निर्वायते। कस्मिन्नुखलु निर्वृते हृदयं निर्वृत्तं नाम भवतीति। अथास्य क्लेशेषु विरक्तमानसस्यैतदभूत्—रागाग्नौ निर्वृते निर्वृत्तं नाम भवति; दोषाग्नौ, मोहाग्नौ निर्वृते निर्वृत्तं नाम भवति, मानदृष्ट्यादिषु सर्वक्लेशादिषु निर्वृत्तेषु निर्वृत्तं नाम भवतीदं मे सुश्रवणमश्रूश्रवद्, अहं हि निर्वाणं गवेषयन् चरामि। अद्यैव मया गृहावासं छर्दयित्वा निष्क्रम्य प्रव्रज्य निर्वाणं गवेषितुं वर्त्तते। अयमस्या आचार्यभागः भवत्विति कण्ठतः अवमुच्य कृशागौतम्यै शतसहस्रार्घणकं मुक्ताहारं प्रैषिषत्। सा 'सिद्धार्थकुमारो मयि प्रतिबद्धचित्तो भूत्वा पण्यकारं प्रैषिषत्' इति सौमनस्यजाताभूत्। बोधिसत्त्वोऽपि महता श्रीसौभाग्येनात्मनः प्रासादमभिरुह्य श्रीशयने न्यपादि। तावदेव नूनं सर्वालङ्कारप्रतिमण्डिताः नृत्यगीतादिषु सुशिक्षिताः देवकन्याइव प्राप्तरूपाः स्त्रियः नानातूर्याणि गृहीत्वा सम्प्रवार्याभिरमयन्त्यो नृत्यगीतवादित्राणि प्रायूयुजन्। बोधिसत्त्वः क्लेशेषु विरक्तचित्ततया नृत्यादिष्वनभिरतः मूहूर्त्तं निद्रामवाक्रमीत्। ता अपि स्त्रियः 'यस्यार्थाय वयं नृत्यादीन् प्रयोजयामः स निद्रामुपगतः, इदानीं किमर्थं क्लास्यामः' इति गृहीतगृहीतानि तूर्याण्यध्यवस्तीर्य न्यपादिषत्। गन्धतैलप्रदीपाः ध्यायन्ति। बोधिसत्त्वः प्रबुध्य शयनपृष्ठे पर्यङ्केण निषण्णः अद्राक्षीत्—ताः स्त्रियः तूर्यभाण्डानि अवस्तीर्य निद्रायमाणाः एकत्याः प्रक्षरितक्ष्वेडाः क्लिन्नगात्राः एकत्याः दन्तान् खादन्त्यः एकत्याः काकथ्यमानाः एकत्याः विप्रलपन्त्यः एकत्याः विवृतमुखाः एकत्याः अपगतवस्त्राः प्रकटबीभत्ससंबाधस्थानाः। स तासां विप्रकारं दृष्ट्वा भूयः सुमात्रता कामेषु विरक्तोऽभूत्। तस्या पर्याप्तालङ्कृतं शक्रभवनसदृशमपि तद् महातलं विप्रवृद्धनानाकुणपभृदामकश्मशानमिवोपास्थात्। त्रयो भवाः आदीप्तगेहसदृशा इव ज्वलिताः। उपद्रुतं बत भो, उपसृष्टं बत भो' इत्यवदानं प्रावर्त्ति। अतीव प्रव्रज्यायै चित्तमनंसीत्। सः 'अद्यैव मया महाभिनिष्क्रमणं निष्क्रमितुं वर्तते' इति शयनादुत्थाय द्वारसमीपं गत्वा 'कोऽत्र' इत्याह। उम्मारे शीर्षं कृत्वा निपन्नश्छन्दः—'अहमार्यपुत्र ! छन्दः' इत्याह।

'अहमद्य महाभिनिष्क्रमणं निष्क्रमितुकामः, एकं मेऽश्वं कल्पय' इति। स 'साधु देव !' इत्यश्वभाण्डकं गृहीत्वाश्वशालां गत्वा गन्धतैलप्रदीपेषु ज्वलत्सु सुमनःपट्टवितानस्याधस्तात् रमणीये भूमिभागे स्थितं कन्थकमश्वराजं दृष्ट्वा—अद्यायमेव मया कल्पनीयो वर्तते' इति कन्थकमक्लृप्त। स कल्पयन्नेवाज्ञासीत्—इयं कल्पनातिगाढा, अन्येषु दिवसेषूद्यानक्रीडादिगमने कल्पनेव न भवति, अस्माकमार्यपुत्रो महाभिनिष्क्रमणं निष्क्रमितुकामः भविष्यतीति, ततः तुष्टमानसः महाहसितमहासीत्। स शब्दः सकलनगरं प्रस्तीर्य गच्छेत्, देवताः पुनस्तं शब्दं निरुध्य न कञ्चित् श्रोतुमदुः। बोधिसत्त्वोऽपि खलु छन्दं प्रेष्यैव पुत्रं तावद्द्रक्ष्यामीति चिन्तयित्वा निषण्णपर्यङ्कतः उत्थाय राहुलमातुः वसनस्थानं गत्वा गर्भद्वारं व्यवीवरत्। तस्मिन् क्षणे अन्तर्गर्भे गन्धतैलप्रदीपः ध्यायति। राहुलमाता सुमनोमल्लिकादीनां पुष्पाणामर्मणमात्रेणाभिप्रकीर्णशयने पुत्रस्य मस्तके हस्तं स्थापयित्वा निद्रायते स्म। बोधिसत्त्व उम्मारे पादं

स्थापयित्वा स्थित एवावलोक्य 'चेदहं देव्याः हस्तमपनीय स्वपुत्रं ग्रहीष्यामि देवी प्रभोत्स्यते, एवं मम गमनान्तरायो भविष्यति, बुद्धो भूत्वैवागम्य द्रक्ष्यामि' इति प्रासादतलतोऽवातरीत्।

हिन्दी अनुवाद

उस समय 'राहुल की माता ने पुत्र उत्पन्न किया है'—यह सुनकर महाराज शुद्धोदन ने आदेश दिया कि मेरे पुत्र को यह शुभ समाचार सुनाओ। बोधिसत्त्व ने यह सुनकर 'राहुल उत्पन्न हुआ, बन्धन उत्पन्न हुआ' ऐसा कहा। 'मेरे पुत्र ने क्या कहा' यह पूछकर उसके वचन को सुनकर राजा ने कहा—आज से मेरे नाती (नप्ता) का नाम राहुलकुमार ही हो। बोधिसत्त्व भी श्रेष्ठ रथ पर चढ़कर महान् यश से सम्पन्न होकर अत्यन्त मनोरम श्री सौभाग्य से युक्त होकर नगर में प्रविष्ट हुए। उस समय प्रासाद के बरामदे पर खड़ी हुई कृशागौतमी नाम की क्षत्रिय-कन्या ने नगर की प्रदक्षिणा करते हुए बोधिसत्त्व के रूप एवं शोभा को देखकर प्रसन्न होकर इस गाथा को कहा—

'वह माता निर्वृत्त (सफल) हो गयी, वह पिता निर्वृत्त हो गया (जिसका ऐसा पुत्र है) तथा वह स्त्री निर्वृत्त हो गयी जिसका ऐसा पति है।'

बोधिसत्त्व यह सुनकर सोचने लगे—इसने ऐसा कहा कि इस प्रकार के रूप एवं सौमनस्य को देखते हुए माता का हृदय निर्वृत्त हो जाता है, पिता का हृदय निर्वृत्त हो जाता है, प्रजापति (नारी) का हृदय निर्वृत्त हो जाता है, तो किसके निर्वृत्त होने पर हृदय निर्वृत्त होता है? क्लेशों से विरक्त होनेवाले इनके (मन में) ऐसा हुआ—रागाग्नि के निर्वृत्त होने पर (हृदय) निर्वृत्त होता है; दोषाग्नि, मोहाग्नि के निर्वृत्त होने पर(हृदय) निर्वृत्त होता है, मान दृष्टि आदि सम्पूर्ण क्लेशों के निर्वृत्त होने पर (हृदय) निर्वृत्त होता है, ऐसा मुझे सुश्रवण सुनायी दिया। अब मैं निर्वाण की गवेषणा के लिए चलता हूँ। आज ही मुझे घर का निवास छोड़कर (घर से) निकलकर प्रव्रज्या धारण कर निर्वाण की गवेषणा करनी है। 'यह इसका आचार्यभाग हो'—ऐसा (विचार कर) सैकड़ों हजार मुद्राओं से खरीदने योग्य बहुमूल्य मुक्ताहार को कृशा गोतमी के पास भेज दिया। 'मेरे प्रति बद्धचित्त होकर ही सिद्धार्थकुमार के इसे भेजा है'—यह सोचकर वह अत्यन्त प्रसन्न हो गयी। बोधिसत्त्व भी महान् श्रीसौभाग्य से सम्पन्न होकर अपने प्रासाद पर चढ़कर श्रीशयन पर लेट गये। तब तक वहाँ सम्पूर्ण अलङ्कारों से सुशोभित नृत्य-गीत आदि में सुशिक्षित देवकन्याओं की भाँति सौन्दर्य सम्पन्न स्त्रियाँ नाना प्रकार के तूर्यों को लेकर (उन्हें) खोलकर अभिरमण करती हुई नृत्य, गीत और वाद्यों का प्रयोग करने लगीं। बोधिसत्त्व ने क्लेशों से विरक्तचित्त होने के कारण, नृत्य आदि में अभिरमण न करते हुए क्षणभर में निद्रा प्राप्त कर ली। 'जिसके लिए हम लोग नृत्य आदि का आयोजन कर रही हैं वही सो गया, (अतः इस समय क्यों कष्ट सहा जाय।' इस प्रकार वे स्त्रियाँ भी ग्रहण किये गये अपने तूर्य

एक तरफ रखकर सो गयीं। गन्धतैलप्रदीप बुझ गये। जागकर शयनपृष्ठ के, पर्यङ्क पर बैठे हुए बोधिसत्त्व ने देखा (कि) वे स्त्रियाँ तूर्यपात्रों को एक तरफ रखकर सो रही हैं, कुछ पसीने से लथ-पथ होने के कारण क्लिन्न हो गयी हैं, कुछ दाँतों को पीस रही हैं, कुछ बड़बड़ा रही है, कुछ विलाप कर रही हैं, कुछ मुँह खोले पड़ी हैं, तथा कुछ के वस्त्र हट जाने के कारण कई अङ्ग स्पष्ट दिखायी पड़ रहे हैं। वे उनकी ऐसी निकृष्ट अवस्था को देखकर पुनः काम से विरक्त हो गये। उन्हें अत्यन्त अलंकृत इन्द्र के भवन के सदृश अपना महल सड़े हुए नाना प्रकार के शवों तथा कच्चे मांस से युक्त श्मशान की भाँति दिखायी पड़ने लगा। उन्हें तीनों लोक जलते हुए घर के समान मालूम होने लगे। उनके मुख से अचानक निकल पड़ा कि 'अरे यहाँ से भाग चला जाय, निकल चला जाय'। उनका मन प्रव्रज्या की ओर अत्यधिक अवनमित हो गया। 'आज ही मुझे महाभिनिष्क्रमण के लिए प्रयास करना चाहिए' (ऐसा) उन्होंने सोचा। ऐसा विचार कर वे पलंग से उठ दरवाजे के पास जाकर बोले—'यहाँ कौन है?' देहली पर सिर रखे सोये हुए छन्द ने कहा—'मैं हूँ आर्यपुत्र!'। 'मैं आज महाभिनिष्क्रमण के लिए निष्क्रमण करना चाहता हूँ, मेरे लिए एक अश्व सजाओ।' 'ठीक है महाराज'—ऐसा कहकर उसने अश्वालङ्करण लेकर अश्वागार में जाकर गन्धतैलप्रदीप के जलते रहने पर सुमनपट्ट वितान के नीचे रमणीय भूमिप्रदेश में स्थित अश्वराट् कन्थक को देखकर 'मुझे आज इसे ही सजाना है' (ऐसा सोचकर) कन्थक को सजाया। कन्थन ने सजते हुए ही समझ लिया कि 'यह सजावट विचित्र है, अत्यन्त गाढ़ है, उद्यानादि क्रीड़ा करने जाने के लिए ऐसी सजावट नहीं होती थी, हमारे आर्यपुत्र आज महाभिनिष्क्रमण के लिए निष्क्रमण करेंगे'। इसलिए प्रसन्न मन होकर उस अश्व ने सजते हुए महा अट्टहास किया। वह शब्द सम्पूर्ण नगर में फैल न जाय, अतः देवताओं ने उस शब्द को रोककर किसी को सुनने नहीं दिया। बोधिसत्त्व ने भी 'छंद को भेजकर ही (भेज दिया) तब तक पुत्र को देख लूँगा (लूँ)'—इस प्रकार सोचकर पर्यङ्क से उठकर राहुल की माता के निवासस्थान पर जाकर अन्तःपुर का द्वार खोल दिया। उस समय अन्दर गन्धतैलप्रदीप बुझ गये थे। राहुल की माता सुमन मल्लिका आदि फूलों को बिस्तर पर फैलाकर पुत्र के मस्तक पर हाथ रखकर सो रही थीं। बोधिसत्त्व ने देहली पर ही पैर रखकर खड़े होकर देखकर (सोचा)—'यदि मैं देवी के हाथ को हटाकर अपने पुत्र को ग्रहण करूँगा तो देवी जाग जायँगी, इस प्रकार गमन में बाधा उत्पन्न होगी; अतः बुद्ध होकर ही आकर देखूँगा' (ऐसा निश्चय कर) बोधिसत्त्व प्रासाद से नीचे उतर गये।

———

धम्मचक्कपवत्तनसुत्तं

एवं मे सुतं—एवं समयं भगवा बाराणसियं विहरति इसिपतने मिगदाये। तत्र खो भगवा पञ्चवग्गिये भिक्खू आमन्तेसि—द्वे मे, भिक्खवे, अन्ता पब्बजितेन न सेवितब्बा। कतमे द्वे? यो चायं कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थसंहितो, यो चायं अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थसंहितो। एते खो, भिक्खवे, उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा चक्खुकरणी ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बानाय संवत्तति। कतमा चा सा, भिक्खवे, मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा चक्खुकरणी ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बानाय संवत्तन्ति? अयं एव अरियो अट्ठंगिको मग्गो, सेय्यथीदं—समादिट्ठि, सम्मासङ्कप्पो, सम्मावाचा, सम्माकम्मन्तो, सम्माआजीवो, सम्मावायामो, सम्मासति, सम्मासमाधि। अयं खो सा, भिक्खवे, मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा चक्खुकरणी ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बानाय संवत्तति। इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्खं अरियसच्चं—जाति पि दुक्खा, जरा पि दुक्खा, व्याधि पि दुक्खा। मरणम्पि दुक्खं, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगो दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि दुक्खं, सङ्खित्तेन पञ्चुपादानखन्धा पि दुक्खा। इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्खसमुदयं अरियसच्चं—यायं तण्हा पोनोब्भविका नन्दिरागसहगता तत्रतत्राभिनन्दनी, सेय्यथीदं—कामतण्हा, भवतण्हा, विभवतण्हा। इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्खनिरोधो अरियसच्चं—यो तस्सा येव तण्हाय असेसविरागनिरोधो, चागो, पटिनिस्सग्गो, मुत्ति, अनालयो। इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्चं—अयं एव अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो, सेय्यथीदं—सम्मादिट्ठि, सम्मासङ्कप्पो, सम्मावाचा, सम्माकम्मन्त, सम्माआजीवो, सम्मावायामो, सम्मासति, सम्मासमाधि।

—सुत्तनिपात

संस्कृत अनुवाद

एवं मया श्रुतम्—एकस्मिन् समये भगवान् वाराणस्यां विहरति ऋषिपत्तने मृगदावे। तत्र खलु भगवान् पञ्चवर्गकान् भिक्षूनामन्त्रयत्—द्वौ इमौ भिक्षवः अन्तौ प्रव्रजितेन न सेवितव्यौ। कतमौ द्वौ? यश्चायं कामेषु कामसुखल्लिकानुयोगो हीनो ग्राम्यः पृथग्जनिकोऽनार्योऽनर्थसंहतः, यश्चायमात्मक्लमथानुयोगो दुःखोऽनार्योऽनर्थसंहतः। एतौ खलु, भिक्षवः, उभौ अन्तावनुपगम्य मध्यमा प्रतिपदा तथागतेनाभि-

सम्बुद्धा चक्षुष्करणी ज्ञानकरण्युपशमायाभिज्ञायै सम्बोधाय निर्वाणाय संवर्त्तते। कतमा च सा भिक्षवः मध्यमा प्रतिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा चक्षुष्करणी ज्ञानकरणी उपशमायाभिज्ञायै सम्बोधाय निर्वाणाय संवर्त्तते इति? अयमेवार्याष्टांगिको मार्गः, स यथायम्—सम्यग्दृष्टिः, सम्यक्सङ्कल्पः, सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्तः, सम्यगाजीवः, सम्यग्व्यायामः, सम्यक्स्मृतिः, सम्यक्समाधिः। इयं खलु सा भिक्षवः! मध्यमा प्रतिपदा तथागतेनाभिसम्बुद्धा, चक्षुष्करणी, ज्ञानकरणी, उपशमायाभिज्ञायै सम्बोधाय निर्वाणाय संवर्त्तते। इदं खलु पुनः भिक्षवः! दुःखमार्यसत्यम्—जातिरपि दुःखम्, जरा अपि दुःखम्, व्याधिरपि दुःखम्, मरणमपि दुःखम्, अप्रियैः सम्प्रयोगो दुःखम्, प्रियैः विप्रयोगो दुःखम्, यदप्यभीष्टं न लभते तदपि दुःखम्। संक्षिप्तेन पञ्चोपादानस्कन्धा अपि दुःखम्। इदं खलु पुनः भिक्षवः! दुःखसमुदय आर्यसत्यम्—येयं तृष्णा पौनर्भविका नन्दिरागसहगता, तत्रतत्राभिनन्दिनी, सा यथेयम्—कामतृष्णा भवतृष्णा, विभवतृष्णा। इदं खलु पुनः भिक्षवः! दुःखनिरोध आर्यसत्यम्—यस्तस्या एव तृष्णाया अशेषवैराग्यनिरोधः, त्यागः, प्रतिनिसर्गः, मुक्तिः, अनालयः। इदं खलु पुनः भिक्षवः! दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदार्यसत्यम्—अयमेवार्याष्टांगिको मार्गः स यथायम्—सम्यग्दृष्टिः, सम्यक्संकल्पः, सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्तः, सम्यगाजीवः, सम्यग्व्यायामः, सम्यक्स्मृतिः, सम्यक्समाधिः।

हिन्दी अनुवाद

ऐसा मैंने सुना है कि एक समय भगवान् वाराणसी में ऋषिपत्तन मृगदाव में विहार कर रहे थे। वहाँ भगवान् ने पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को आमन्त्रित किया—प्रव्रज्या धारण करनेवाले द्वारा इन दो अन्तों पर आचरण नहीं करना चाहिए। कौन दो? जो कामों में काम-सुख की इच्छा करनेवाला, (आचरण से) हीन, ग्राम्य पामर जन, अनार्य एवं अनर्थ एकत्र करनेवाला है, तथा जो अपने को (पाप कर्मों से) थकानेवाला, दुःखदायी अनार्य एवं अनर्थ को एकत्र करनेवाला है। हे भिक्षुओ, इन उपर्युक्त दोनों प्रकार के अन्तों का आचरण न कर ही तथागत ने दृष्टि तथा ज्ञान देनेवाली मध्यमा प्रतिपदा को समझा, जो शान्ति, सम्बोध और निर्वाण के लिए है। हे भिक्षुओ! वह कौन-सी मध्यमा प्रतिपदा है जो तथागत द्वारा भली-भाँति समझी गयी है, जो दृष्टि देनेवाली है, ज्ञानप्रद है तथा उपशान्ति, अभिज्ञा सम्बोध एवं निर्माण के लिए संवर्तित (प्रवर्तित) होती है? यही आर्याष्टांगिक मार्ग है, वह इस प्रकार है—सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक्स्मृति, सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्त, सम्यगाजीव, सम्यग्व्यायाम, सम्यक्समाधि। हे भिक्षुओ! यही वह मध्यमा प्रतिपदा है जो तथागत द्वारा अभिसम्बुद्ध (भली-भाँति जानी गयी) है, जो दृष्टि देनेवाली है, ज्ञानप्रद है, तथा उपशान्ति, अभिज्ञा, सम्बोधि एवं निर्वाण के लिए संवर्तित होती है। हे भिक्षुओ! दुःख आर्यसत्य है, जाति भी दुःख है, जरा भी दुःख है, व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है, अप्रिय (वस्तुओं या व्यक्तियों) के साथ संयोग दुःख है, प्रिय का वियोग भी दुःख है जो अभीष्ट भी

नहीं प्राप्त होता है, वह भी दुःख है। संक्षेप में पाँचों उपादानस्कन्ध दुःख हैं। हे भिक्षुओ—दुःखसमुदाय भी आर्यसत्य है—जो यह तृष्णा पुनः उत्पन्न होने का कारण बननेवाली, राग एवं आनन्द के साथ रहनेवाली, उन-उन स्थानोंका अभिनन्दन करनेवाली है, वह यह है—कामतृष्णा, भवतृष्णा, विभवतृष्णा। भिक्षुओ! दुःखनिरोध भी आर्यसत्य है—जो कि उस तृष्णा का अशेष वैराग्यपूर्वक निरोध, त्याग, प्रतिनिसर्ग, मुक्ति तथा अनालय है। दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा भी आर्यसत्य है। यही आर्याष्टाङ्गिक मार्ग है, वह यह है—सम्यग्दृष्टि, सम्यक्सङ्कल्प, सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्त, सम्यगाजीव, सम्यग्व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

———

महापरिनिब्बानसुत्तं

अथ खो भगवा आयस्मन्तं आनन्दं आमन्तेसि—"सिया खो पनानन्द, तुम्हाकं एवं अस्स—"अतीतसत्थुकं पावचनं। नत्थि नो सत्था' ति। न खो पनेतं, आनन्द, एवं दट्ठब्बं। यो वो, आनन्द, मया धम्मो च विनयो च देसितो पञ्ञत्तो, सो वो ममच्चयेन सत्था। यथा खो पनानन्द, एतरहि भिक्खू अञ्ञमञ्ञं आवुसोवादेन समुदाचरन्ति, न वो ममच्चयेन एवं समुदाचरितब्बं। थेरतरेन, आनन्द, भिक्खुना नवकतरो भिक्खु नामेन वा गोत्तेन वा आवुसो-वादेन वा समुदाचरितब्बो। नवकतरेन भिक्खुना थेरतरो भिक्खु 'भन्ते' ति वा 'आयस्मा' ति वा समुदाचरितब्बो। आकङ्खमानो, आनन्द, सङ्घो ममच्चयेन खुद्दानुखुद्दकानि सिक्खापदानि समूहन्तु। छन्नस्स, आनन्द, भिक्खुनो ममच्चयेन ब्रह्मदण्डो दातब्बो" ति। "कतमो पन भन्ते ब्रह्मदण्डो" ति? 'छन्नो, आनन्द, भिक्खु यं इच्छेय्य तं वदेय्य, सो भिक्खूहि नेव वत्तब्बो, न ओवदितब्बो न अनुसासितब्बो' ति। अथ खो भगवा भिक्खू आमन्तेसि—'सिया खो पन, भिक्खवे, एकभिक्खुस्सापि कंखा वा विमति वा बुद्धे वा धम्मे वा संघे वा मग्गे वा पटिपदाय वा, पुच्छथ, भिक्खवे, मा पच्छा विप्पटिसारिनो अहुवत्थ—"सम्मुखीभूतो नो सत्था अहोसि, न मयं सक्खिम्हा भगवन्तं सम्मुखा पटिपुच्छितुं" ति। एवं वुत्ते, ते भिक्खू तुण्हीअहेसुं। दुतियम्पि, ततियम्पि खो भगवा भिक्खू आमन्तेसि...। ततियम्पि खो ते भिक्खू तुण्ही-अहेसुं। अथ खो भगवा भिक्खू आमन्तेसि—'सिया खो पन, भिक्खवे, सत्थु गारवेनापि न पुच्छेय्याथ। सहायको पि, भिक्खवे, सहायकस्स आरोचेतू' ति। एवं वुत्ते, ते भिक्खू तुण्ही अहेसुं। अथ खो आयस्मा आनन्दो भगवन्तं एतदवोच—'अच्छरियं भन्ते, अब्भुतं भन्ते! एवं प्रसन्नो अहं, भन्ते, 'इमस्मि भिक्खुसङ्घे नत्थि एकभिक्खुस्सापि कंखा वा विमति वा बुद्धे वा धम्मे वा सङ्घे वा मग्गे वा पटिपदाय वा' ति। 'पसादा, खो त्वं, आनन्द वदेसि। ञाणं एव हेत्थ आनन्द तथागतस्स। नत्थि इमस्मिं भिक्खुसङ्घे एकभिक्खुस्सापि कंखा वा विमति वा बुद्धे वा धम्मे वा सङ्घे वा मग्गे वा पटिपदाय वा। इमेसं हि, आनन्द, पञ्चन्नं भिक्खुसतानं यो पच्छिमको भिक्खु सो सोतापन्नो अवि-निपातधम्मो नियतो सम्बोधिपरायणो' ति। अथ खो भगवा भिक्खू आम-न्तेसि—'हन्द दानि, भिक्खवे, आमन्तयामि वो—वयधम्मा सङ्खारा, अप्पमादेन सम्पादेथा' ति। अयं तथागतस्स पच्छिमा वाचा।

अथ खो भगवा पठमज्झानं समापज्जि। पठमज्झाना वुट्ठहित्वा दुतियज्झानं ... ततियज्झानं ... चतुत्थज्झानं समापज्जि। चतुत्थज्झाना वुट्ठहित्वा आकासानञ्चायतनं समापज्जि। आकासानञ्चायतनसमापत्तिया वुट्ठहित्वा

विञ्ञाणञ्चायतनं समापज्जि। विञ्ञाणञ्चायतनासमापत्तिया वुट्ठहित्वा आकिञ्चञ्ञायतनं समापज्जि। आकिञ्चञ्ञायतनसमापत्तिया वुट्ठहित्वा नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं समापज्जि। नेवसञ्ञानासञ्ञायतनसमापत्तिया वुट्ठहित्वा सञ्ञावेदयितनिरोधं समापज्जि। अथ खो आयस्मा आनन्दो आयस्मन्तं अनुरुद्धं एतदवोच—'परिनिब्बुतो, भन्ते अनुरुद्ध, भगवा' ति। 'न आवुसो आनन्द, भगवा परिनिब्बुतो, सञ्ञावेदयितनिरोधं समापन्नो' ति। अथ खो भगवा सञ्ञावेदयितनिरोधसमापत्तियावुट्ठहित्वा नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं... आकिञ्चञ्ञायतनं... विञ्ञाणञ्चायतनं... आकासनञ्चायतनं... चतुत्थं झानं... ततियंझानं... दुतियंझानं... पठमंझानं समापज्जि, पठमज्झाना वुट्ठहित्वा दुतियज्झानं... ततियज्झानं... चतुत्थज्झानं समापज्जि, चतुत्थज्झाना वुट्ठहित्वा समनन्तरा भगवा परिनिब्बायि। परिनिब्बुते भगवति, सह परिनिब्बाना, महाभूमिचालो अहोसि भिंसनको लोमहंसो। देवदुन्दुभियो च फलिंसु। परिनिब्बुते भगवति, सह परिनिब्बाना, ब्रह्मा सहंपति इमं गाथं अभासि—

'सब्बेव निक्खिपिस्सन्ति, भूता लोके समुस्सयं।
यत्थ एतादिसो सत्था, लोके अप्पटिपुग्गलो।
तथागतो बलप्पत्तो, सम्बुद्धो परिनिब्बुतो' ति॥

परिनिब्बुते भगवति, सह परिनिब्बाना, सक्को देवानं इन्दो इमं गाथं अभासि—

'अनिच्चा वत संखारा, उप्पादवयधम्मिनो।
उपज्जित्वा निरुज्झन्ति, तेसं वूपसमो सुखो'ति॥

परिनिब्बुते भगवति, सह परिनिब्बाना, आयस्मा अनुरुद्धो इमा गाथायो अभासि—

'नाहु अस्सासपस्सासो, ठितचित्तस्य तादिनो।
अनेजो सन्तिमारब्भ, यं कालं अकरी मुनी॥
असल्लीनेन चित्तेन, वेदनं अज्झवासयि।
पज्जोतस्सेव निब्बानं, विमोखो चेतसो अहू' ति॥

परिनिब्बुते भगवति, सह परिनिब्बाना, आयस्मा आनन्दो इमं गाथं अभासि—

'तदासि यं भिंसनकं, तदासि लोमहंसनं।
सब्बाकारवरूपेते, सम्बुद्धे परिनिब्बुते' ति॥
नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स।

—सुत्तपिटक, दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त।

संस्कृत अनुवाद

अथ खलु भगवान् आयुष्मन्तमानन्दममन्त्रत्—"स्यात्खलु पुनः आनन्द ! युष्माकमेवं भवेत्–अतीतशास्तृकं प्रावचनम् , नास्ति नः शास्तेति । न खलु पुनरेतदानन्द ! एवं द्रष्टव्यम् । यो वः आनन्द ! मया धर्मश्च विनयश्च देशितः, प्रज्ञप्तः, स वो ममात्ययेन शास्ता । यथा खलु पुनरानन्द ! एतर्हि भिक्षुमन्योऽन्यमायुष्मद्वादेन समुदाचरन्ति, न खलु ममात्ययेनैवं समुदाचरितव्यम् । स्थविरतरेणानन्द ! भिक्षुणा नवकतरो भिक्षुः नाम्ना वा गोत्रेण वायुष्मद्वादेन वा समुदाचरितव्यः । नवकतरेण भिक्षुणा स्थविरतरो भिक्षुः 'भदन्त' इति वा 'आयुष्मन्' इति वा समुदाचरितव्यः । आकांक्षमाणः आनन्द ! संघो ममात्ययेन क्षुद्रानुक्षुद्रकाणि शिक्षापदानि समुद्धन्तु (जहातु) । छन्दस, अनन्द ! भिक्षोः ममात्ययेन ब्रह्मदण्डं दातव्यम् ।"

"कतमः पुनः भदन्त ! ब्रह्मदण्ड इति ?"

"छन्द, आनन्द ! भिक्षुर्यदिच्छेत् तद् वदेत् स भिक्षुभिः नैव वक्तव्यः, नाववक्तव्यः, नानुशासितव्यः" इति । अथ खलु भगवान् भिक्षूनमन्त्रत्—"स्यात्खलु पुनः भिक्षवः ! एकस्य भिक्षोः अपि कांक्षा वा विमतिः वा धर्मे वा संघे वा मार्गे वा प्रतिपदायां वा, पृच्छथ भिक्षवः ! मा पश्चात् विप्रतिसारिणो भवत—सम्मुखीभूतः न शास्ताभूत् , न वयं शक्नुमो भगवन्तं सम्मुखं प्रतिप्रष्टुम्" इति ।

एवमुक्ते, ते भिक्षवः तूष्णीमभूवन् । द्वितीयमपि, तृतीयमपि खलु भगवान् भिक्षूनममन्त्रत् । तृतीयमपि खलु ते भिक्षवः तूष्णीमभूवन् । अथ खलु भगवान् भिक्षूनममन्त्रत—"स्यात्खलु पुनः भिक्षवः शास्तुः गौरवेणापि न पृच्छेयुः । सहायकोऽपि भिक्षवः ! सहायकमारोचयतु" इति । एवमुक्ते ते भिक्षवः तूष्णीमभूवन् ।

अथ खल्वायुष्मन् आनन्दः भगवन्तमेतदवोचत् "आश्चर्यं भन्ते ! अद्भुतं भन्ते ! एवं प्रसन्नोऽहं भन्ते ! एतस्मिन् भिक्षुसंघे नास्त्येकस्यापि भिक्षोः कांक्षा वा विमतिः वा बुद्धे वा धर्मे वा संघे वा मार्गे वा प्रतिपदायां वा" इति ।

'प्रसादात्खलु त्वमानन्द ! वदसि । ज्ञानमेव हि अत्र आनन्द ! तथागतस्य, नास्त्यस्मिन् भिक्षुसंघे एकस्य भिक्षोः अपि कांक्षा वा विमतिः वा बुद्धे वा धर्मे वा संघे वा मार्गे वा प्रतिपदायां वा । एषां ह्यानन्द ! पञ्चानां भिक्षुशतानां यः पश्चिमकः भिक्षुः सः स्रोतस्यापन्नोऽविनिपातधर्मो नियतः सम्बोधिपरायण इति ।"

अथ खलु भगवान् भिक्षूनममन्त्रत्—"हन्त ! इदानीं भिक्षवः ! आमन्त्रयामि वः, व्ययधर्माः संस्कारा, अप्रमादेन सम्पादयत" इति ।

इयं तथागतस्य पश्चिमा वाग् ।

अथ खलु भगवान् प्रथमं ध्यानं समापादि । प्रथमध्यानादुत्थाय द्वितीयध्यानं समापादि । द्वितीयध्यानादुत्थाय तृतीयध्यानं समापादि । तृतीयध्यानादुत्थाय चतुर्थ-

ध्यानं समापादि। चतुर्थध्यानादुत्थायाकाशानन्त्यायतनं समापादि। आकाशानन्त्यायतनसमापत्तेरुत्थाय विज्ञानानन्त्यायतनं समापादि। विज्ञानानन्त्यायतनसमापत्तेरुत्थायाकिंचन्यायतनं समापादि। आकिंचन्यायतनसमापत्तेरुत्थाय नैवसंज्ञानासंज्ञायतनं समापादि। नैवसंज्ञानासंज्ञायतनसमापत्तेरुत्थाय संज्ञावेदयितृनिरोधं समापादि।

अथ खल्वायुष्मानानन्द आयुष्मन्तमनुरुद्धमेतदवोचत्—"परिनिर्वृतो, भन्ते! अनुरुद्ध! भगवान्।" इति।

"न आयुष्मन्नानन्द! भगवान् परिनिर्वृतः, संज्ञावेदयितृनिरोधं समापन्न इति।"

अथ खलु भगवान् संज्ञावेदयितृनिरोधसमापत्तेरुत्थाय नैवसंज्ञानासंज्ञायतनं समापादि। नैवसंज्ञानासंज्ञायतनसमापत्तेरुत्थाय आकिंचन्यायतनं समापादि। आकिंचन्यायतनसमापत्तेरुत्थाय विज्ञानानन्त्यायतनं समापादि। विज्ञानानन्त्यायतनसमापत्तेरुत्थायाकाशानन्त्यायतनं समापादि। आकाशानन्त्यायतनसमापत्तेरुत्थाय चतुर्थध्यानं समापादि। चतुर्थध्यानादुत्थाय तृतीयध्यानं समापादि। तृतीयध्यानादुत्थाय द्वितीयं ध्यानं समापादि। द्वितीयध्यानादुत्थाय प्रथमं ध्यानं समापादि।

प्रथमध्यानादुत्थाय द्वितीयध्यानं समापादि। द्वितीयध्यानादुत्थाय तृतीयध्यानं समापादि। तृतीयध्यानादुत्थाय चतुर्थध्यानं समापादि। चतुर्थध्यानादुत्थाय समनन्तरं भगवान् परिनिरवारीत्। परिनिर्वृते भगवति, सह परिनिर्वाणेन, महाभूमिचालः अभूत् भीषणको लोमहर्षः; देवदुन्दुभ्यश्चाफालिषुः।

परिनिर्वृते भगवति, सह परिनिर्वाणेन, ब्रह्मा सहम्पतिः इमां गाथामभाषीत्—

"सर्व एव निक्षेप्स्यन्ति भूताः लोके समुच्छ्रयम्।
यथैतादृशः शास्ता, लोकेऽप्रतिपुद्गलः।
तथागतो बलप्राप्तः, सम्बुद्धः परिनिर्वृतः" इति॥

परिनिर्वृते भगवति, सह परिनिर्वाणेन, शक्रो देवानामिन्द्रःइमां गाथामभाषीत्—

"अनित्याः बत संस्काराः उत्पादव्ययधर्मिणः।
उत्पद्य निरुध्यन्ते तेषामुपशमः सुखम्" इति॥

परिनिर्वृते भगवति, सह परिनिर्वाणेनायुष्मान् अनुरुद्धः इमां गाथामभाषीत्—

"न खल्वाश्वासप्रश्वासः, स्थितचित्तस्य तापिनः।
अनेजः शान्तिमारभ्य यं कालमकरोत् मुनिः॥
असल्लीनेन चित्तेन वेदनामध्यवासयत्।
प्रद्योतस्यैव निर्वाणं विमोक्षः चेतसः अभूत्" इति॥

परिनिर्वृते भगवति, सह परिनिर्वाणेयुष्मान् आनन्दः इमां गाथामभाषीत्—

'तदासीत् यद्भीषणकं तदासीत् लोमहर्षणम्।
सर्वाकारवरोपेते सम्बुद्धे परिनिर्वृते' इति॥

नमस्तस्मै भगवतेऽर्हते सम्यक्सम्बुद्धाय॥

हिन्दी अनुवाद

तब भगवान् ने आयुष्मान् आनन्द को आमन्त्रित किया—"आनन्द ! सम्भव है, तुम लोगों को ऐसा हो कि अतीत शास्ता का (यह) प्रवचन है, अब हमारा शास्ता नहीं है। आनन्द ! इसे ऐसा मत समझना। मैंने जो धर्म और विनय उपदिष्ट किये हैं, प्रज्ञप्त किये हैं, मेरे बाद वे ही तुम्हारे शास्ता हैं। आनन्द ! जैसे आजकल भिक्षु एक दूसरे को 'आवुस' कहकर पुकारते हैं, मेरे बाद ऐसा कहकर न पुकारें। आनन्द ! स्थविर भिक्षु नवीन भिक्षु को नाम से या गोत्र से, या 'आयुष्मान्' कहकर पुकारें। नवीन भिक्षु स्थविरतर को 'भन्ते' या 'आयुष्मन्' कहकर पुकारें। आकांक्षा रखनेवाला संघ मेरे बाद क्षुद्र-अनुक्षुद्र (छोटे-छोटे) शिक्षापदों को छोड़ दें। आनन्द ! मेरे बाद छन्द (स्वच्छन्द) भिक्षु को ब्रह्मदण्ड देना चाहिए।"

"भन्ते ! यह ब्रह्मदण्ड क्या है ?"

"आनन्द ! छन्द भिक्षु जो चाहे सो कहे, भिक्षुओं को उससे न बोलना चाहिए, न उसे उपदेश या अनुशासन करना चाहिए।"

तब भगवान् ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया—"भिक्षुओ ! (यदि) बुद्ध, धर्म, संघ, मार्ग या प्रतिपदा में किसी भिक्षु को कुछ शंका या विमति हो, (तो) पूछ ले। भिक्षुओ ! अभी पूछ लो, फिर अफसोस न करना कि शास्ता हमारे सम्मुख थे, (किन्तु) हम भगवान् के सामने पूछ न सके।" ऐसा कहने पर वे भिक्षु चुप रहे।

दूसरी बार भी भगवान् ने...। तीसरी बार भी भगवान् ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया—भिक्षुओ ! (यदि) बुद्ध, धर्म, संघ, मार्ग या प्रतिपदा में किसी भी भिक्षु को कुछ शंका या दुविधा हो, तो पूछ, लो भिक्षुओ ! बाद में पश्चात्ताप न करना—"शास्ता हमारे सम्मुख थे, (किन्तु) हम भगवान् के सम्मुख पूछ नहीं सके।" तीसरी बार भी भिक्षु चुप रह गये। तब भगवान् ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया—"हो सकता है भिक्षुओ ! शास्ता के गौरव से भी (संकोच या भय से) न पूछते हो, तो भिक्षुओ ! सहायक ही सहायक से कहे।" ऐसा कहने पर भी वे भिक्षु चुप रहे।

तब आयुष्मान् आनन्द ने भगवान् से यह कहा—"आश्चर्य है भन्ते ! अद्भुत है भन्ते ! मैं इस भिक्षुसंघ से ऐसा प्रसन्न हूँ, (कि यहाँ) एक भिक्षु को भी बुद्ध, धर्म, संघ, मार्ग या प्रतिपदा के विषय में सन्देह या विमति नहीं है।"

"आनन्द ! तुम 'प्रसन्न हूँ' कह रहे हो ? तथागत का ज्ञान ही यहाँ (कारण) है। इस भिक्षुसंघ में एक भिक्षु को भी बुद्ध, धर्म, संघ, मार्ग या प्रतिपदा के विषय में सन्देह या विमति नहीं है। आनन्द ! पाँच सौ भिक्षुओं में जो सबसे छोटा भिक्षु है,-वह (भी कम-से-कम) स्रोतापन्न है, न गिरनेवाला है, नियत है, सम्बोधि परायण है।"

तब भगवान् ने भिक्षुओं को आमन्त्रित किया—"हे भिक्षुओ! मैं अब तुम्हें (अन्तिम उपदेश) देता हूँ—संस्कार व्ययधर्मा हैं; अप्रमाद के साथ (इनका) संपादन करो।" यह तथागत का अन्तिम वचन है।

तब भगवान् प्रथम ध्यान को प्राप्त हुए। प्रथम ध्यान से उठकर द्वितीय ध्यान को प्राप्त हुए। द्वितीय ध्यान से उठकर तृतीय ध्यान को प्राप्त हुए। तृथीय ध्यान से उठकर चतुर्थ ध्यान को प्राप्त हुए। चतुर्थ ध्यान से उठकर आकाशानन्त्यायतनको प्राप्त हुए। आकाशानन्त्यायतनसमापत्ति से उठकर विज्ञानानन्त्यायतन को प्राप्त हुए। विज्ञानानन्त्यायतनसमापत्ति से उठकर आकिञ्चन्यायतनसमापत्ति को प्राप्त हुए। आकिञ्चन्यायतनसमापत्ति से उठकर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को प्राप्त हुए। नैवसंज्ञानासंज्ञायतनसमापत्ति से उठकर संज्ञावेदयितनिरोधसमापत्ति को प्राप्त हुए।

तदनन्तर आयुष्मान् आनन्द ने आयुष्मान् अनुरुद्ध से कहा—"भन्ते अनुरुद्ध! क्या भगवान् परिनिर्वृत हो गये?"

"आयुष्मान् आनन्द! भगवान् परिनिर्वृत नहीं हुए, संज्ञावेदयितृनिरोध को प्राप्त हुए हैं।"

तब भगवान् पुनः संज्ञावेदयितृनिरोधसमापत्ति से उठकर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन को प्राप्त हुए। नैवसंज्ञानासंज्ञायतनसमापत्ति से उठकर आकिंचन्यायतन को प्राप्त हुए। आकिंचन्यायतन समापत्ति से उठकर विज्ञानानन्त्यायतन को प्राप्त हुए। विज्ञानानन्त्यायतनसमापत्ति से उठकर आकाशानन्त्यायतन को प्राप्त हुए। आकाशानन्त्यायतनसमापत्ति से उठकर चतुर्थ ध्यान को प्राप्त हुए। चतुर्थ ध्यान से उठकर तृतीय ध्यान को प्राप्त हुए। तृतीय ध्यान से उठकर द्वितीय ध्यान को प्राप्त हुए। द्वितीय ध्यान से उठकर प्रथम ध्यान को प्राप्त हुए।

पुनः प्रथम ध्यान से उठकर द्वितीय ध्यान को प्राप्त हुए। द्वितीय ध्यान से उठकर तृतीय ध्यान को प्राप्त हुए। तृतीय ध्यान से उठकर चतुर्थ ध्यान को प्राप्त हुए। चतुर्थ ध्यान से उठने के अनन्तर भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

भगवान् के परिनिर्वृत होने पर निर्वाण के साथ ही भीषण लोमहर्षक महाभूचाल हुआ। देव-दुन्दुभियाँ बज उठीं। भगवान् के परिनिर्वृत होने पर, परिनिर्वाण के साथ सहम्पति ब्रह्मा ने यह गाथा कही—

"संसार के सभी प्राणी जीवन से गिरेंगे, जबकि लोक में ऐसे अद्वितीय पुरुष, बलप्राप्त, तथागत, शास्ता बुद्ध भी परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।"

भगवान् के परिनिर्वृत होने पर, परिनिर्वाण के साथ देवेन्द्र शक्र ने यह गाथा कही—

"संस्कार उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं (जो) उत्पन्न होकर नष्ट होते हैं; उनका शान्त होना ही सुख है।"

भगवान् के परिनिर्वृत होने पर, परिनिर्वाण के साथ आयुष्मान् अनुरुद्ध ने यह गाथा कही—

स्थिरचित्त तथागत को (अब) आश्वास-प्रश्वास नहीं रहा। शान्ति के लिए निष्काम हो मुनि ने समय बिताया, अलिप्त चित्त से वेदना को छोड़ दिया। प्रकाशमान चित्त का ही निर्वाण विमोक्ष हुआ।

भगवान् के परिनिर्वृत्त होने पर, परिनिर्वाण के साथ आयुष्मान् आनन्द ने यह गाथा कही—

'जब सर्वश्रेष्ठ आकार से युक्त सम्बुद्ध परिनिर्वाण को प्राप्त हुए, उस समय भीषणता हुई, उस समय रोमांच हुआ। उस भगवान् अर्हत् सम्यक्संबुद्ध को (मेरा) प्रणाम है।

—दीघनिकाय

———

पालि-संगहो

३

बुद्धसासनं

सम्मावत्तना

सद्धिविहारिकेन, भिक्खवे, उपज्झायम्हि सम्मावत्तितब्बं। तत्रायं सम्मावत्तना—कालस्सेव वुटठाय उपाहना ओमुञ्चित्वा एकंसं उत्तरासंगं करित्वा दन्तकट्ठं दातब्बं, मुखोदकं दातब्बं, आसनं पञ्ञापेतब्बं। सचे यागु होति भाजनं धोवित्वा यागु उपनामेतब्बा। यागुं पीतस्स उदकं दत्वा भाजनं पटिग्गहेत्वा नीचं कत्वा साधुकं अपटिघंसन्तेन धोवित्वा पटिसामेतब्बं। उपज्झायम्हि वुट्ठिते आसनं उद्धरितब्बं। सचे सो देसो उक्लापो होति सो देसो सम्मज्जितब्बो। सचे उपज्झायो गामं पविसितुकामो होति निवासनं दातब्बं, पटिनिवासनं पटिग्गहेतब्बं, कायबन्धनं दातब्बं, सगुणं कत्वा सङ्घाटियो दातब्बा, धोवित्वा पत्तो सउदको दातब्बो। स चे उपज्झायो पच्छासमणं आकंखति तिमंडलं पटिच्छादेन्तेन परिमण्डलं निवासेत्वा, कायबन्धनं बंधित्वा, सगुणं कत्वा, सङ्घाटियो पारुपित्वा, गण्ठिकं पटिमुञ्चित्वा, धोवित्वा पत्तं गहेत्वा उपज्झायस्स पच्छासमणेन होतब्बं। नातिदूरे गन्तब्बं, न अच्चासन्ने गन्तब्बं, पत्तपरियापन्नं पटिग्गहेतब्बं। न उपज्झायस्स भणमानस्स अन्तरन्तरा कथा ओपातेतब्बा, उपज्झायो आपत्तिसामन्ता भणमानो निवारेतब्बो। निवत्तन्तेन पठमतरं आगन्त्वा आसनं पञ्ञापेतब्बं, पादोदकं पादपीठं पादकथलिकं उपनिक्खिपितब्बं, पच्चुग्गन्त्वा पत्तचीवरं पटिग्गहेतब्बं। सचे चीवरं सिन्नं होति मुहुत्तं उण्हे ओतापेतब्बं, न च उण्हे चीवरं निदहितब्बं। चीवरं संहरितब्बं, चीवरं संहरन्तेन चतुरंगुलं कण्णं उस्सादेत्वा चीवरं संहरितब्बं मा मज्झे भंगो अहोसीति। ओभोगे कायबन्धनं कातब्बं। सचे पिण्डपातो होति उपज्झायो च भुञ्जितुकामो होति, उदकं दत्वा पिण्डपातो उपनामेतब्बो। उपज्झायो पानीयेन पुच्छितब्बो। भुत्ताविस्स उदकं दत्वा पत्तं पटिग्गहेत्वा नीचं कत्वा साधुकं अपटिघंसन्तेन धोवित्वा वोदकं कत्वा मुहुत्तं उण्हे ओतापेतब्बो, न च उण्हे पत्तो निदहितब्बो। पत्तचीवरं निक्खिपितब्बं। पत्तं निक्खिपन्तेन एकेन हत्थेन पत्तं गहेत्वा एकेन हत्थेन हेट्ठामञ्चं वा हेट्ठापीठं वा परामसित्वा पत्तो निक्खिपितब्बो, न च अनन्तरहिताय भूमिया पत्तो निक्खिपितब्बो। चीवरं निक्खिपन्तेन एकेन हत्थेन चीवरं गहेत्वा एकेन हत्थेन चीव-

खंसं वा चीवररज्जुं वा पमज्जित्वा पारतो अन्तं ओरतो भोगं कत्वा चीवरं निक्खिपितब्बं। उपज्झायम्हि वुट्ठिते आसनं उद्धरितब्बं, पादोदकं पादपीठं पादकथलिकं पटिसामेतब्बं, सचे सो देसो उक्लापो होति सो देसो सम्मज्जितब्बो। सचे उपज्झायो नहायितुकामो होति नहानं पटियादेतब्बं, सचे सीतेन अत्थो होति सीतं पटियादेतब्बं। सचे उण्हेन अत्थो होति उण्हं पटियादेतब्बं। सचे उपज्झायो जन्ताघरं[१] पविसितुकामो होति चुण्णं सन्नेतब्बं, मत्तिका तेमेतब्बा, जन्ताघरपीठं आदाय उपज्झायस्स पिट्ठितो पिट्ठितो गन्त्वा जन्ताघरपीठं दत्वा चीवरं पटिग्गहेत्वा एकमन्तं निक्खिपितब्बं, चुण्णं दातब्बं, मत्तिका दातब्बा। सचे उस्सहति जन्ताघरं पविसितब्बं, जन्ताघरं पविसन्तेन मत्तिकाय मुखं मक्खेत्वा पुरतो च पच्छतो च पटिच्छादेत्वा जन्ताघरं पविसितब्बं।

न थेरे भिक्खू अनुपखज्ज निसीदितब्बं, न नवा भिक्खू आसनेन पटिबाहेतब्बा। जन्ताघरे उपज्झायस्स परिकम्मं कातब्बं, जन्ताघरा निक्खमन्तेन जन्ताघरपीठं आदाय पुरतो च पच्छतो च पटिच्छादेत्वा जन्ताघरा निक्खमितब्बं। उदकेपि उपज्झायस्स परिकम्मं कातब्बं, नहातेन पठमतरं उत्तरित्वा अत्तनो गत्तं वोदकं कत्वा निवासेत्वा उपज्झायस्स गत्ततो उदकं पमज्जितब्बं, निवासनं दातब्बं, सङ्घाटि दातब्बा, जन्ताघरपीठं आदाय पठमतरं आगन्त्वा आसनं पञ्ञापेतब्बं, पादोदकं पादपीठं पादकथलिकं उपनिक्खिपितब्बं, उपज्झायो पानीयेन पुच्छितब्बो। सचे उद्दिसापेतुकामो होति उद्दिसापेतब्बो। सचे परिपुच्छितुकामो होति परिपुच्छितब्बो। यस्मिं विहारे उपज्झायो विहरति सचे सो विहारो उक्लापो होति सचे उस्सहति सोधेतब्बो। विहारं सोधेन्तेन पठमं पत्तचीवरं नीहरित्वा एकमन्तं निक्खिपितब्बं, निसीदनपच्चत्थरणं नीहरित्वा एकमन्तं निक्खिपितब्बं। मञ्चो नीचं कत्वा साधुकं अप्पटिघंसन्तेन, असंघट्टन्तेन कवाटपिट्ठं नीहरित्वा एकमन्तं निक्खिपितब्बो। पीठं नीचं कत्वा साधुकं अप्पटिघंसन्तेन, असङ्घट्टन्तेन कवाटपिट्ठं नीहरित्वा एकमन्तं निक्खिपितब्बं। मञ्चपटिपादका नीहरित्वा एकमन्तं निक्खिपितब्बा। खेळमल्लको

१. रीस डेविस ने इस शब्द के बारे में लिखा है—[अग्गिसाला, a room in which a fire is kept (viz.for the purpose of a steam bath i.e. a hot room...) Etym. uncertain. Buhler...yantragrha (oil mill ?). E. Hardy...jentaka (hot dry both)...In all probability it is a distorted form (by dissimilation or anology), perhaps, of jhantagara, to jha to burn = Sk. ksha, jhanti heat or heating (= sk kshati)+agara, which latter received the aspiration of the first part (=aghara), both being reduced in length of vowels=jant aghara] 1. A (hot) room for bathing purposes,... 2. Living room.

नीहरित्वा एकमन्तं निक्खिपितब्बो। अपस्सेनफलकं नीहरित्वा एकमन्तं निक्खिपितब्बं। भुम्मत्थरणं यथापञ्ञत्तं सल्लक्खेत्वा नीहरित्वा एकमन्तं निक्खिपितब्बं। सचे विहारे सन्तानकं होति उल्लोका पठमं ओहारेतब्बं, आलोकसन्धिकण्णभागा पमज्जितब्बा। सचे गेरुकपरिकम्मकता भित्ति कण्हाकिता होति चोळकं तेमेत्वा पीळेत्वा पमज्जितब्बा। सचे काळवण्णकता भूमि कण्णकिता होति चोळकं तेमेत्वा पीळेत्वा पमज्जितब्बा। सचे अकता होति भूमि उदकेन परिप्फोसित्वा सम्मज्जितब्बा—मा विहारो रजेन ऊहञ्ञीति। संकारं विचिनित्वा एकमन्तं छड्डेतब्बं।

—विनय-पिटक

संस्कृत अनुवाद

सहविहारिकेण भिक्षवः, उपाध्याये सम्यगावर्तयितव्यम्। तत्रेयं सम्यगावर्त्तना—काले एवोत्थायोपानहावमुच्यैकांसे उत्तरासंगं कृत्वा दन्तकाष्ठं दातव्यम्, मुखोदकं दातव्यमासनं प्रज्ञापयितव्यम्। चेद् यवागूः भवति, भाजनं धावित्वा यवागूरुपनामयितव्या। यवागूं पीताय उदकं दत्वा भाजनं प्रतिगृह्य नीचैः कृत्वा साधुकमपरिघंसता धावित्वा प्रतिशामयितव्यम्। उपाध्याये उत्थिते आसनमुद्धर्तव्यम्। चेत् स देश उत्क्लापो भवति स देशः सम्मार्जयितव्यः। चेदुपाध्यायः ग्रामं प्रवेष्टुकामो भवति निवासनं दातव्यम्, प्रतिनिवासनं प्रतिगृहीतव्यम्, कायबन्धनं दातव्यम्, सगुणं कृत्वा संघाटिका दातव्या, धोवित्वा सोदकं पात्रं दातव्यम्। चेदुपाध्यायः पश्चात् श्रमणमाकांक्षते त्रिमण्डलं प्रतिच्छादयता परिमण्डलं निवास्य, कायबन्धनं बध्वा, सगुणं कृत्वा संघाटिकाः प्रारोप्य ग्रन्थिकां प्रतिमुच्य, धावित्वा पात्रं गृहीत्वोपाध्यायस्य पश्चात् श्रमणेन भवितव्यम्। नातिदूरे गन्तव्यम्, पात्रपर्यापन्नं प्रतिगृहीतव्यम्। नोपाध्यायस्य भणतः अन्तरान्तरा कथावपातयितव्या। उपाध्याय आपत्तिसामन्तैः भणन् निवारयितव्यः। निवर्तयता प्रथमतरमागत्यासनं प्रज्ञापयितव्यम्, पादोदकं पादपीठं पादकन्थारिकोपनिक्षेप्तव्या, प्रत्युद्गम्य पात्रचीवरे परिगृहीतव्ये। चेत् चीवरं स्विन्नं भवति मुहूर्त्तमुष्णे अवतापयितव्यम्, न चोष्णे चीवरं निदग्धव्यम्। चीवरं संहर्तव्यम्, चीवरं संहरता चतुरंगुलं कर्णमुत्सार्य चीवरं संहर्तव्यम् मा मध्ये भंगोऽभूदिति। अवभोगे कायबन्धनं कर्तव्यमिति। चेत् पिण्डपातो भवत्युपाध्यायश्च भोक्तुकामो भवत्युदकं दत्वा पिण्डपात उपनामयितव्यः। उपाध्यायः पानीयेन प्रष्टव्यः, भुक्तावित्यस्मै उदकं दत्वा पात्रं प्रतिगृह्य नीचैः कृत्वा साधुकमपरिघंसता धावित्वा व्युदकं कृत्वा मुहूर्तमुष्णेऽवतापयितव्यम्, न चोष्णे पात्रं निदग्धव्यम्। पात्रचीवरे निक्षेप्तव्ये, पात्रं निक्षिपतैकेन हस्तेन पात्रं गृहीत्वैकेन हस्तेनाधस्तात् मञ्चस्य वा अधस्तात् पीठस्य वा परामृश्य पात्रं निक्षेप्तव्यम्, न च अनन्तर्हितायां भूमौ पात्रं निक्षेप्तव्यम्। चीवरं निक्षिपतैकेन हस्तेन चीवरं गृहीत्वैकेन हस्तेन चीवरांशं वा चीवररज्जुं वा प्रमृज्य पारत

अन्तमवरतः भोगं कृत्वा चीवरं निक्षेप्तव्यम्। उपाध्याये उत्थिते आसनमुद्धर्तव्यम्, पादोदकं पादपीठं पादकन्थारिका प्रतिशामयितव्या। चेत् स देश उत्क्लापो भवति स देशः सम्मार्जितव्यः। चेदुपाध्यायः स्नातुकामो भवति स्नानं प्रत्यादातव्यम्। चेत् शीतेनार्थो भवति शीतं प्रत्यादातव्यम्, चेत् उष्णेनार्थो भवत्युष्णं प्रत्यादातव्यम्। चेदुपाध्यायो यन्त्रगृहं प्रवेष्टुकामो भवति चूर्णं सन्नेतव्यम्, मृत्तिका तेमितव्या, यन्त्रगृहपीठमादायोपाध्यायस्य पृष्ठतः पृष्ठतो गत्वा यन्त्रगृहपीठं दत्वा चीवरं प्रतिगृह्यैकान्ते निक्षेप्तव्यम्, चूर्णं दातव्यम्, मृत्तिका दातव्या। चेदुत्सहते यन्त्रगृहं प्रवेष्टव्यम्, यन्त्रगृहं प्रविशता मृत्तिकया मुखं म्रक्षित्वा पुरतश्च प्रतिच्छाद्य यन्त्रगृहं प्रवेष्टव्यम्।

न स्थविरान् भिक्षूननुपपज्य निषोदितव्यम्, न नवा भिक्षवः आसनात् प्रतिवाहयितव्याः। यन्त्रगृहे उपाध्यायस्य परिकर्म कर्त्तव्यम्, निष्क्रमता यन्त्रगृहपीठमादाय पुरतश्च पृष्ठतश्च प्रतिच्छाद्य यन्त्रगृहान् निष्क्रमितव्यम्। उदकेऽप्युपाध्यायस्य परिकर्म कर्त्तव्यम्, स्नातेन प्रथमतरमुत्तीर्यात्मनो गात्रं व्युदकं कृत्वा निवास्योपाध्यायस्य गात्रस्य उदकं प्रमार्ष्टव्यम्, निवसनं दातव्यम्, संघाटिका दातव्या। यंत्रगृहपीठमादाय प्रथमतरमागत्यासनं प्रज्ञापयितव्यम्, पादोदकं पादपीठं पादकन्थारिकोपनिक्षेप्तव्योपाध्यायः पानीयेन प्रष्टव्यः। चेदुद्देशयितुकामो भवत्युद्देशयितव्यः, चेत् परिप्रष्टुकामो भवति, परिप्रष्टव्यः। यस्मिन् विहारे उपाध्यायो विहरति चेत् स विहारः उत्क्लापो भवति, चेदुत्सहते शोधयितव्यः। विहारं शोधयता प्रथमं पात्रचीवरं निर्हृत्यैकान्ते निक्षेप्तव्यम्, निषीदनप्रत्यास्तरणं निर्हृत्यैकान्ते निक्षेप्तव्यम्। मञ्चो नीचैः कृत्वा साधुकमपरिघंसता असंघट्टता कपाटपृष्ठम् निर्हृत्यैकान्ते निक्षेप्तव्यम्। पीठं नीचैः कृत्वा साधुकमपरिघंसता संघट्टता कपाटपृष्ठम् निर्हृत्यैकान्ते निक्षेप्तव्यम्। मञ्चप्रतिपादकाः निर्हृत्य एकान्ते निक्षेप्तव्याः, क्ष्वेडमल्लकः निर्हृत्यैकान्ते निक्षेप्तव्यः। अपश्रयणफलकं निर्हृत्यैकान्ते निक्षेप्तव्यम्, भूम्यास्तरणं यथाप्रज्ञप्तं संलक्ष्य निर्हृत्यैकान्ते निक्षेप्तव्यम्। चेद् विहारे सन्तानकं भवति उल्लोकेन प्रथममवहरितव्यम्। आलोकसन्धिकर्णभागाः प्रमार्ष्टव्याः। चेद् गैरिकपरिकर्मकृता भित्तिः कृष्णकृता भवति चोलकं तेमित्वा पीडयित्वा प्रमार्ष्टव्यम्। चेत् कालवर्णकृता भूमिः कृष्णकृता भवति तेमित्वा पीडयित्वा प्रमार्ष्टव्या। चेदकृता भवति भूमिः उदकेन परिप्रुष्य सम्मार्ष्टव्या—मा विहारः रजसोद्धन्येतेति। संकारं निचित्य एकान्ते छर्दितव्यम्।

हिन्दी अनुवाद

हे भिक्षुओ, (उपाध्याय के) साथ-साथ रहते हुए (आप लोगों को) उपाध्याय के प्रति ऐसा आचरण करना चाहिए। वह आचरण (सम्यगावर्त्तना) इस प्रकार है—समय के भीतर ही उठकर उपानह को अलग करके उत्तरासंग को एक कन्धे पर कर, दातौन देना चाहिए, मुँह धोने के लिए जल देना चाहिए और आसन बताना चाहिए। यदि यवागू है तो पात्र को धोकर यवागू लानी चाहिए। यवागू पी लेने के बाद उन्हें जल देकर पात्र को लेकर नीचे कर भलीभाँति, बिना अधिक उसे रगड़े, धोकर, व्यवस्थित

रख देना चाहिए। उपाध्याय के उठने पर (उनका) आसन उठा देना चाहिए। यदि वह प्रदेश अस्वच्छ हो गया हो तो उसे झाड़-पोंछ देना चाहिए। यदि उपाध्याय गाँव में प्रवेश करना चाहते हों तो (उन्हें उनके) वस्त्र दे देने चाहिए। (उनके) पहने हुए कपड़ों को ले लेना चाहिए, कायबंधन दे देना चाहिए, रस्सी के साथ करके संघाटिका देनी चाहिए, धोकर जल-सहित पात्र देना चाहिए, यदि उपाध्याय अपने साथ एक श्रमण ले जाने की इच्छा करें तो त्रिमण्डल को ढकनेवाले परिमण्डल में निवास करके, कायबन्धन को बाँधकर रस्सी सहित संघाटिका का आरोपण करके (पहले से) लगी गाँठ को छोड़कर शुद्ध पात्र साथ लेकर उपाध्याय के पीछे-पीछे श्रमण को भी अनुसरण करना चाहिए। उपाध्याय से न तो अतिदूर रहना चाहिए, न उनके अत्यन्त सन्निकट। (सभा में पहुँचकर) भिक्षापात्र ग्रहण कर लेना चाहिए। उपाध्याय जब बोल रहे हों (तब) बीच में दूसरी बात नहीं लानी चाहिए। यदि उपाध्याय अनभीप्सित व्यक्तियों से बात करते हों तो निवारण करना चाहिए। लौटते समय पहले ही आकर आसन बताना चाहिए, पैर धोने का जल देना चाहिए, पादपीठ बताना चाहिए और तौलिया समर्पित करनी चाहिए। उठकर (उपाध्याय के) पात्र तथा चीवर सम्भाल लेना चाहिए। यदि उपाध्याय का चीवर भींगा हो तो क्षणभर धूप में सुखा देना चाहिए (किन्तु) धूप में वस्त्र को जलने नहीं देना चाहिए। चीवर को बटोर लेना चाहिए, चीवर बटोरते समय चार अँगुलियों से चौकोर कर लेना चाहिए (चपोत देना चाहिए), मध्य में फट न जाय इसलिए उसमें (चीवर में) कायबन्धन कर देना चाहिए। यदि भिक्षापात्र में भोजन-सामग्री हो और उपाध्याय भोजन करने की इच्छा करें तो जल देकर भोजन-सामग्री उनके पास लानी चाहिए। (बीच-बीच में) उपाध्याय से जल के लिए पूछना चाहिए। भोजन कर लेने के बाद उन्हें जल देकर पात्र ले लेना चाहिए, उसे नीचे कर भलीभाँति बिना अधिक रगड़े, धोकर उसका जल सुखाकर थोड़ी देर धूप में उसे सुखाना चाहिए (किन्तु) धूप में पात्र को जलने नहीं देना चाहिए। पात्र और चीवर (व्यवस्थित) रख देना चाहिए। पात्र को रखते समय एक हाथ से पात्र को पकड़कर दूसरे हाथ से मञ्च या पीठ के नीचे देख-भालकर पात्र रखना चाहिए, नंगी पृथ्वी पर पात्र नहीं रखना चाहिए। चीवर को रखते हुए एक हाथ से चीवर को पकड़कर दूसरे हाथ से चीवर के एक प्रदेश को या चीवर की रस्सी को रगड़कर (बराबर कर) बाहर से भीतर की तरफ मोड़कर (चपोत कर) रख देना चाहिए।

उपाध्याय के उठने पर (उनके) आसन को उठा देना चाहिए, पादोदक, पादपीठ, तौलिया व्यवस्थित रख देना चाहिए। यदि वह प्रदेश अस्वच्छ हो गया हो तो झाड़-पोंछ देना चाहिए। यदि उपाध्याय नहाने की इच्छा करें तो स्नान करा देना चाहिए, यदि उन्हें शीतल जल का प्रयोजन हो तो शीतल जल ला देना चाहिए और यदि गरम जल का प्रयोजन हो तो गरम जल ला देना चाहिए। यदि उपाध्याय यन्त्रगृह में प्रवेश करना चाहते हों तो चूर्ण (मिट्टी) ले आना चाहिए, मिट्टी भिगो देनी चाहिए, यन्त्रगृह

पीठ को ले आकर उपाध्याय के पीछे-पीछे जाकर यन्त्रगृहपीठ को देकर चीवर लेकर एकान्त में रख देना चाहिए, चूर्ण देना चाहिए, मृत्तिका देनी चाहिए। यदि उपाध्याय यन्त्रगृह में प्रवेश करने की आज्ञा दें तो यन्त्रगृह में प्रवेश करते हुए मिट्टी से मुँह धोकर (यन्त्रगृह को) आगे तथा पीछे से बन्दकर यन्त्रगृह में प्रवेश करना चाहिए।

स्थविर भिक्षुओं का अनादर नहीं कर बैठना चाहिए, नये भिक्षुओं को भी आसन से नहीं हटाना चाहिए। यन्त्रगृह में उपाध्याय का परिकर्म करना (व्यवस्था करनी) चाहिए। उपाध्याय के स्नान के समय भी उनसे पूर्व ही निकलकर अपने शरीर को सुखाकर, वस्त्र पहनकर उपाध्याय के शरीर से जल पोंछ देना चाहिए, वस्त्र दे देना चाहिए, संघाटिका देनी चाहिए, यन्त्रगृहपीठ को लेकर पहले ही आकर आसन बता देना चाहिए। पादोदक, पादपीठ और तौलिया रख देनी चाहिए, उपाध्याय को पानी के लिए पूछना चाहिए। यदि वह कुछ (निर्देश) करना चाहें तो उस निर्देश को सुनना चाहिए, यदि वह कुछ पूछना चाहें तो उन्हें पूछने देना चाहिए। जिस विहार में उपाध्याय विहार कर रहे हों, यदि वह विहार अस्वच्छ हो तो उसे स्वच्छ कर देना चाहिए। विहार को स्वच्छ करते हुए सर्वप्रथम पात्र और चीवर को देखकर एक तरफ रख देना चाहिए। बैठने के आसन को देखकर एक तरफ रख देना चाहिए। मञ्च को नीचे करके भलीभाँति बिना अधिक रगड़े व कपाटपृष्ठ को न खटखटाते हुए, देखकर एक तरफ रख देना चाहिए। पीठ को नीचे करके भलीभाँति बिना अधिक रगड़े कपाट-पृष्ठ को न खटखटाते हुए देखकर, एक तरफ रख देना चाहिए। मञ्च प्रतिपादकों को देखकर एक तरफ रख देना चाहिए। पीकदान को भलीभाँति देखकर एक तरफ रख देना चाहिए, तकिया को भलीभाँति देखकर (उसे) एक तरफ रख देना चाहिए। पृथ्वी पर बिछाने के बिस्तर को यथास्थान सँभालकर भलीभाँति देखकर एकान्त में रख देना चाहिए। यदि विहार में (कहीं) जाले आदि हों तो सर्वप्रथम पोंछनेवाले कपड़े से उसे (जाले को) पोंछ देना चाहिए। (विहार के) झरोखों में लगे हुए गन्दे पदार्थों को साफ कर देना चाहिए। यदि गेरू के परिकर्म (कपड़ा आदि रंगने) के कारण दीवाल अस्वच्छ हो जाय तो कपड़े को भिगोकर तथा निचोड़कर (उससे) पोंछ देना चाहिए। यदि काले वर्ण से भूमि अस्वच्छ हो जाय तो कपड़े को भिगोकर उससे भूमि को पोंछ देना चाहिए। यदि भूमि में किसी प्रकार का धब्बा आदि हो तो जल छिड़ककर सम्मार्जन कर देना चाहिए, विहार को धूल से धूसरित नहीं करना चाहिए। (झाड़े हुए) कूड़े को एकत्र कर एक तरफ फेंक देना चाहिए।

सम्मादिट्ठि

सावत्थियं विहरति। अथ खो आयस्मा कच्चायनगोत्तो येन भगवा तेनुपसंकमि, उपसंकमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा एकमन्तं निसीदि। एकमन्तं निसिन्नो खो आयस्मा कच्चायनगोत्तो भगवन्तं एतदवोच—सम्मादिट्ठि सम्मादिट्ठीति भन्ते वुच्चति, किन्तावता नु खो भन्ते सम्मादिट्ठि होतीति? द्वयं निस्सितो खो, यं कच्चायनलोको येभुय्येन—अत्थितञ्चेव नत्थितञ्च। लोकसमुदयं खो कच्चायन यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय पस्सतो या लोके नत्थिता सा न होति, लोकनिरोधं खो कच्चायन यथाभूतं सम्मप्पञ्ञाय पस्सतो या लोके अत्थिता सा न होति। उपायुपादानाभिनिवेसनिबंधो खो, यं कच्चायन लोको येभुय्येन—तञ्चायं 'उपायुपादानं चेतसो अधिट्ठानाभिनिवेसानुसयं न उपेति न उपादियति नाधिट्ठाति 'अत्ता मेति; दुक्खं एव उप्पज्जमानं उप्पज्जति, दुक्खं निरुज्झमानं निरुज्झतीति' न कंखति, न विचिकिच्छति, अपरप्पच्चया ञाणं एवस्स एत्थ होति, एतावता खो कच्चायन सम्मादिट्ठि होति। 'सब्बं अत्थीति' खो कच्चायन अयं एको अन्तो, 'सब्बं नत्थीति, अयं दुतियो अन्तो, एते ते कच्चायन उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति—अविज्जापच्चया संखारा, संखारप्पच्चया विञ्ञाणं—पे०—एवं एतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति, अविज्जाय त्वेव असेसविरागनिरोधा संखारनिरोधो, संखारनिरोधा विञ्ञाणनिरोधो—पे०—एवं एतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होतीति।

—संयुक्त निकाय

संस्कृत अनुवाद

श्रावस्त्यां विहरति। अथ खल्वायुष्मान् कात्यायनगोत्रः यत्र भगवान् तत्रोपसमक्रमीत्, उपसङ्क्रम्य भगवन्तमभिवाद्यैकस्मिन् अन्ते न्यसीदत्। एकस्मिन् अन्ते निषण्णः खल्वायुष्मान् कात्यायनगोत्रो भगवन्तमेतदवोचत्—सम्यग्दृष्टिः सम्यग्दृष्टिरिति भदन्त उच्यते, किं तावद् खलु भदन्त सम्यग्दृष्टिः भवतीति? द्वयं निश्रितः खल्वयं कात्यायन! लोकः यद्भूयसा—अस्तिताञ्चैव नास्तिताञ्च। लोकसमुदयः खलु कात्यायन! यथाभूतं सम्प्रज्ञया पश्यतो या लोके नास्तिता सा न भवति, लोकनिरोधं खलु कात्यायन! यथाभूतं सम्प्रज्ञया पश्यतो या लोकेऽस्तिता सा न भवति। उपायोपादानाभिनिवेशनिबन्धः खल्वयं कात्यायन! लोकः यद्भूयसा—तच्चायमुपायोपादानं चेतसोऽधिष्ठानाभिनिवेशानुशयं नोपैति नोपादत्ते नाधितिष्ठति आत्मा मेति, दुःखमेवोत्पद्यमानमुत्पद्यते। दुःखं निरुध्यमानं निरुध्यते इति न काङ्क्षति न विचिकित्सति। अपरप्रत्य-

याज्ज्ञानमेवास्य भवति। एतावता खलु कात्यायन! सम्यग्दृष्टिः भवति। 'सर्वमस्तीति' खलु कात्यायन! अयमेकोऽन्तः, 'सर्वं नास्तीति' अयं द्वितीयोऽन्तः। एते ते कात्यायन! उभावन्तेऽनुपगम्य मध्येन तथागतः धर्मं दिशति—अविद्याप्रत्ययात्संस्काराः, संस्कारप्रत्ययाद् विज्ञानं······एवमेतस्य केवलस्य दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति, अविद्यायास्त्वेवाशेषविरागनिरोधात् संस्कारनिरोधः, संस्कारनिरोधाद् विज्ञाननिरोधः—एवमेतस्य केवलस्य दुःखस्कन्धस्य निरोधो भवति।

हिन्दी अनुवाद

(जिस समय) तथागत श्रावस्ती में विहार कर रहे थे, आयुष्मान् कात्यायनगोत्र जहाँ भगवान् थे, वहीं गये। (वहाँ) जाकर भगवान् को अभिवादन करके एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठे हुए आयुष्मान् कात्यायनगोत्र ने भगवान् से यह कहा—भन्ते, सम्यग्दृष्टि सम्यग्दृष्टि, ऐसा कहा जाता है; भन्ते! सम्यग्दृष्टि क्या होती है? हे कात्यायन! यह लोक जिस किसी को आस्तिकता और नास्तिकता कहता है, वे दोनों लोक-दृष्टि हैं।

यदि यथार्थ-रूप में लोक की उत्पत्ति की दृष्टि से देखा जाय, तो नास्तिकता का बोध सही नहीं है और इसी तरह यदि लोक में नाश दृष्टि से देखा जाय तो आस्तिकता का बोध सही नहीं है।

हे कात्यायन! उपायोपादानमय यह संसार या तो प्राप्त करने में लगा रहता है या प्राप्त किये हुए को स्थिर करने के आग्रह में बँधा रहता है। इस प्रकार मनुष्य, इस उपायोपादानमय संसार को, जो उसके चित्त में आग्रह का अधिष्ठान करता है, न तो प्राप्त करता है न ग्रहण करता है, न उसमें अधिष्ठित ही रहता है। वह अपना तादात्म्य इनसे नहीं कर पाता। केवल (इनसे) दुःख ही उत्पन्न होता है, इसी को उत्पन्न होना कहते हैं। दुःख ही विनष्ट होता है, इसी को निरोध कहते हैं। वह स्वयं न तो इच्छा करता है, न सन्देह करता है। इस प्रकार की लोकातीत प्रज्ञा से देखो तो जो ज्ञान होता है, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। सब कुछ अस्तित्वशाली है—दृष्टि का यह एक छोर है, सब कुछ विनाशशाली है—यह दूसरा छोर। इन दोनों छोरों पर न जाकर, हे कात्यायन, तथागत बीच के मार्ग से धर्म का उपदेश करते हैं—अविद्या को पाकर संस्कार, संस्कार को पाकर विज्ञान और इसको पाकर दुःख-संस्कार की प्रतीति होती है। सब प्रकार से वैराग्य के द्वारा अविद्या के निरोध से संस्कार का निरोध, संस्कार के निरोध से विज्ञान का निरोध और इस प्रकार दुःख के निरोध (विनाश) की प्रतीति होती है।

धम्मपदसंगहो

न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो ॥५॥

यथा अगारं सुच्छन्नं वुट्ठि न समतिविज्झति।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविज्झति ॥१४॥

इध नन्दति, पेच्च नन्दति, कतपुञ्ञो उभयत्थ नन्दति।
'पुञ्ञं मे कतं' ति नन्दति, भिय्यो नन्दति सुग्गतिं गतो ॥१८॥

अचिरं वत, यं कायो पठविं अधिसेस्सति।
छुद्दो अपेतविञ्ञाणो निरत्थं व कलिङ्गरं ॥४१॥

यथापि भमरो पुप्फं वण्णगन्धं अहेठयं।
पलेति रसं आदाय एवं गामे मुनी चरे ॥४९॥

दीघा जागरतो रत्ती, दीघं सन्तस्स योजनं।
दीघं बालानं संसारो, सद्धम्मं अविजानतं ॥६०॥

न हि पापं कतं कम्मं सज्जु खीरं व मुच्चति।
डहन्तं बालं अन्वेति भस्माछन्नो व पावको ॥७१॥

उदकं हि नयन्ति नेत्तिका, उसुकारा नमयन्ति तेजनं।
दारुं नमयन्ति तच्छका, अत्तानं दमयन्ति पण्डिता ॥८०॥

सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निन्दापसंसेसु न समिञ्जन्ति पण्डिता ॥८१॥

यो सहस्सं सहस्सेन सङ्गमे मानुसे जिने।
एकञ्च जेय्यमत्तानं स वे सङ्गामजुत्तमो ॥१०३॥

परिजिण्णं इदं रूपं रोगनिड्डं पभङ्गुणं।
भिज्जति पूतिसन्देहो मरणन्तं हि जीवितं ॥१४८॥

एकं धम्मं अतीतस्स मुसावादिस्स जन्तुनो।
वितिण्णपरलोकस्य नत्थि पापं अकारियं ॥१७६॥

यो च बुद्धञ्च धम्मञ्च सङ्घञ्च स्सरणं गतो।
चत्तारि अरियसच्चानि सम्पप्पञ्ञाव पस्सति ॥१९०॥

दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं।
अरियञ्चट्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं ॥१९१॥

एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं।
एतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति ॥१९२॥

मा पियेहि समागञ्छि अप्पियेहि कुदाचनं ।
पियानमदस्सनं दुक्खं अप्पियानञ्च दस्सनं ॥२१०॥
यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं व धारये ।
तमहं सारथिं ब्रूमि रस्मिग्गाहो, तरो जनो ॥२२२॥
अयसा व मलं समुट्ठितं, तदुपट्ठाय तमेव खादति ।
एवं अतिधोनचारिनं, सककम्मानि नयति दुग्गतिं ॥२४०॥
सुदस्सं वज्जं अञ्ञेसं अत्तनो पन दुद्दसं ।
परेसं हि सो वज्जानि ओपुनाति यथा भुसं ।
अत्तनो पन छादेति कलिं व कितवा सठो ॥२५२॥
न तेन भिक्खु भवति यावता भिक्खते परे ।
विस्सं सम्मं समादाय भिक्खु होति न तावता ॥२६६॥
योध पुञ्ञञ्च पापञ्च बाहित्वा ब्रह्मचरियवा ।
संखाय लोके चरति स वे भिक्खू, ति वुच्चति ॥२६७॥
'सब्बे संखारा अनिच्चा' ति यदा पञ्ञाय पस्सति ।
अथ निब्बिन्दती दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ॥२७७॥
'सब्बे संखारा दुक्खा' ति यदा पञ्ञाय पस्सति ।
अथ निब्बिन्दती दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ॥२७८॥
'सब्बे धम्मा अनत्ता' ति यदा पञ्ञाय पस्सति ।
अथ निब्बन्दती दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ॥२७९॥
सेय्यो अयोगुळो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो ।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डं असञ्ञतो ॥३०८॥
दिवा तपति आदिच्चो, रत्तिं आभाति चन्दिमा ।
सन्नद्धो खत्तियो तपति, झायी तपति ब्राह्मणो ।
अथ सब्बं अहोरत्तिं बुद्धो तपति तेजसा ॥३८७॥
न जटाहि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो ।
यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुची सो च ब्राह्मणो ॥३९३॥
किं ते जटाहि दुम्मेध, किं ते अजिनसाटिया ।
अब्भन्तरं ते गहनं, बाहिरं परिमज्जसि ॥३९४॥
पंसुकूलधरं जन्तुं किसं धमनिसन्थतं ।
एकं वनस्मिं झायन्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥३९५॥

—खुद्दकनिकाय

संस्कृत अनुवाद

नहि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन ।
अवैरेण च शाम्यन्त्येष धर्मः सनातनः ॥ ५ ॥

यथागारं सुच्छन्नं वृष्टिर्न समतिविध्यति ।
एवं सुभावितं चित्तं रागो न समतिविध्यति ॥ १४ ॥
इह नन्दति प्रेत्य नन्दति कृतपुण्यः उभयत्र नन्दति ।
पुण्यं मे कृतमिति नन्दति भूयो नन्दति सुगतिं गतः ॥ १८ ॥
अचिरं बतायं कायः पृथिवीमधिशेष्यते ।
क्षुद्रोऽपेतविज्ञानो निरर्थमिव कलिङ्गरम् ॥ ४१ ॥
यथापि भ्रमरः पुष्पं वर्णगन्धमहेडमानः ।
पलायते रसमादाय एवं ग्रामे मुनिश्चरेत् ॥ ४९ ॥
दीर्घा जाग्रतो रात्रिः दीर्घं श्रान्तस्य योजनम् ।
दीर्घो बालानां संसारः सद्धर्ममविजानतः ॥ ६० ॥
न हि पापं कृतं कर्म सद्यः क्षीरमिव मुञ्चति ।
दहन् बालमन्वेति भस्माच्छन्न इव पावकः ॥ ७१ ॥
उदकं हि नयन्ति नेतृकाः इषुकाराः नमयन्ति तेजनम् ।
दारु नमयन्ति तक्षका आत्मानं दमयन्ति पण्डिताः ॥ ८० ॥
शैलो यथैकघनो वातेन न समीर्यते ।
एवं निन्दाप्रशंसयोः न समीर्यन्ते पण्डिताः ॥ ८१ ॥
यः सहस्रं सहस्रेण संग्रामे मानुषान् जयेत् ।
एकञ्च जयेदात्मानं स वै संग्रामजिदुत्तमः ॥ १०३ ॥
परिजीर्णमिदं रूपं रोगनीडं प्रभङ्गुरम् ।
भिद्यते पूतिसन्दिग्धो मरणान्तं हि जीवितम् ॥ १४८ ॥
एकं धर्ममतीतस्य मृषावादिनो जन्तोः ।
वितीर्णपरलोकस्य नास्ति पापमकार्यम् ॥ १७६ ॥
यश्च बुद्धञ्च धर्मञ्च संघञ्च शरणं गतः ।
चत्वार्यार्यसत्यानि सम्यक् प्रज्ञया पश्यति ॥ १९० ॥
दुःखं दुःखसमुत्पादं दुःखस्य चातिक्रमम् ।
आर्याष्टांगिकं मार्गं दुःखोपशमगामिनम् ॥ १९१ ॥
एतत् खलु शरणं क्षेममेतच्छरणमुत्तमम् ।
एतच्छरणमागत्य सर्वदुःखात् प्रमुच्यते ॥ १९२ ॥
मा प्रियैः समागच्छाप्रियैः कदाचन ।
प्रियाणामदर्शनं दुःखमप्रियाणाञ्च दर्शनम् ॥ २१० ॥
यो वै उत्पतितं क्रोधं रथं भ्रान्तमिव धारयेत् ।
तमहं सारथिं ब्रवीमि रश्मिग्राह इतरो जनः ॥ २२२ ॥
अयस इव मलं समुत्थितं तत उत्थाय तदेव खादति ।
एवमतिधावनचारिणं स्वानि कर्माणि नयन्ति दुर्गतिम् ॥ २४० ॥

सुदर्शं वद्यमन्येषामात्मनः पुनः दुर्दर्शम् ।
परेषां हि स वद्यानवपुनाति यथा तुषम् ।
आत्मनः पुनः छादयति कलिमिव कितवः शठः ॥ २५२ ॥

न तावता भिक्षुः भवति यावता भिक्षते परान् ।
वेश्यं धर्मं समादाय भिक्षुर्भवति न तावता ॥ २६६ ॥

य इह पुण्यञ्च पापञ्च वाहयित्वा ब्रह्मचर्यवान् ।
संख्याय लोके चरति स वै भिक्षुरित्युच्यते ॥ २६७ ॥

सर्वे संस्काराः अनित्या इति यदा प्रज्ञया पश्यति ।
अथ निर्विन्दति दुःखान्येष मार्गो विशुद्धेः ॥ २७७ ॥

सर्वे संस्काराः दुःखानि इति यदा प्रज्ञया पश्यति ।
अथ निर्विन्दति दुःखान्येष मार्गो विशुद्धेः ॥ २७८ ॥

सर्वे संस्काराः अनात्मानः इति यदा प्रज्ञया पश्यति ।
अथ निर्विन्दति दुःखान्येष मार्गो विशुद्धेः ॥ २७९ ॥

श्रेयान् अयोगोलो भुक्तस्तप्तोऽग्निशिखोपमः ।
यच्चेद्भुञ्जीत दुःशीलः राष्ट्रपिण्डमसंयतः ॥ ३०८ ॥

दिवा तपत्यादित्यः रात्रावाभाति चन्द्रमाः ।
सन्नद्धः क्षत्रियस्तपति ध्यायी तपति ब्राह्मणः ।
अथ सर्वमहोरात्रं बुद्धस्तपति तेजसा ॥ ३८७ ॥

न जटाभिर्न गोत्रैर्न जात्या भवति ब्राह्मणः ।
यस्मिन् सत्यञ्च धर्मश्च स शुचिः स च ब्राह्मणः ॥ ३९३ ॥

किं ते जटाभिर्दुर्मेध ! किं तेऽजिनशाट्या ।
आभ्यन्तरं ते गहनं बाह्यं परिमार्जयसि ॥ ३९४ ॥

पांशुकूलधरं जन्तुं कृशं धमनिसंस्तृतम् ।
एकं वने ध्यायन्तं तमहं ब्रवीमि ब्राह्मणम् ॥ ३९५ ॥

हिन्दी अनुवाद

वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता है, (अपितु) अवैर (प्रेम) से ही शान्त होता है, यही सनातन धर्म है ॥५॥

जिस प्रकार अच्छी तरह छाये गये (बनाये गये) घर को वृष्टि नहीं बेधती है, उसी प्रकार अच्छी तरह भावित चित्त को राग नहीं बेधता (घेरता है) ॥१४॥

(कोई व्यक्ति) यहाँ आकर आनन्दित होता है, (और कोई व्यक्ति) इस लोक से जाकर (भी) आनन्दित होता है किन्तु पुण्यवान् व्यक्ति दोनों जगह आनन्दित होता है। मैंने पुण्य किया है, ऐसा सोचकर (व्यक्ति) आनन्दित होता है तथा सुगति (निर्वाण) को प्राप्त कर व्यक्ति पुनः पुनः आनन्दित होता है ॥१८॥

यह शरीर शीघ्र ही पृथिवी पर सो जायगा। यह विज्ञानरहित क्षुद्र शरीर कलिंगर की तरह निरर्थक है ॥४१॥

जिस प्रकार भौंरा (निर्लिप्त होकर) फूल की गन्ध का अनादर न करता हुआ उसके रस को लेकर भाग (चला जाता है, उसी प्रकार ग्राम में मुनि (निर्लिप्त भाव से) विचरण करे ॥४९॥

जागनेवाले व्यक्ति के लिए रात्रि बड़ी होती है। थके हुए व्यक्ति के लिए एक योजन बहुत बड़ा होता है। सद्धर्म को न जाननेवाले मूर्खों का संसार भी बहुत बड़ा होता है ॥६०॥

दूध जैसे तुरत नहीं छोड़ता और जैसे राख से ढकी हुई आग बालक को जला देती है, वैसे ही किया गया पापकर्म व्यक्ति को (दूध की तरह) नहीं छोड़ता (और आग की तरह जला देता है।) ॥७१॥

(जिस तरह) जल को नाली ले जाती है, लोहार तेज (लोहे) को झुका देते हैं, बढ़ई लकड़ी को झुका देते हैं। (उसी तरह) पण्डित लोग आत्मा का दमन करते हैं ॥८०॥

जिस प्रकार अत्यन्त मोटा पर्वत वायु द्वारा नहीं हिलाया जाता है, उसी प्रकार निन्दा एवं प्रशंसा से पण्डित लोग विचलित नहीं होते हैं ॥८१॥

जो संग्राम में हजार (व्यक्तियों) द्वारा हजार (व्यक्तियों) को जीतता है, यदि वह केवल अपने को जीत ले तो वही श्रेष्ठ संग्रामजित् है ॥१०३॥

यह रूप अत्यन्त जीर्ण, रोग का आगार, सर्वथा क्षणभंगुर, फोड़े-फुंसी आदि से सन्दिग्ध होकर भिन्न प्रकार का हो जाता है। यह जीवन भी तो मरण-पर्यन्त ही है ॥१४८॥

धर्म को अतिक्रमण करनेवाले, परलोक की चिन्ता से परे रहनेवाले मृषावादी प्राणी के लिए पाप अकार्य नहीं है (वह पाप कर सकता है) ॥१७६॥

बुद्ध, धर्म एवं संघ के शरण गया हुआ जो व्यक्ति चार आर्य सत्यों को भलीभाँति प्रज्ञा से देखता है उस व्यक्ति के लिए दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध, दुःखनिरोध-गामिनी प्रतिपगा एवं आर्याष्टांगिक मार्ग ही कल्याणकारी एवं श्रेष्ठ शरण हैं। वह इनकी शरण में आकर सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है ॥१९०, १९१, १९२॥

प्रिय (लोगों) के साथ मत जाओ तथा अप्रियों के साथ कभी भी मत जाओ (क्योंकि) प्रिय (जनों) का न देखना एवं अप्रिय (लोगों) का देखना दुःखकर होता है ॥२१०॥

जो उठे (उत्पन्न) हुए क्रोध को भ्रान्त रथ की भाँति धारण कर लेता है, उसी को मैं सारथी मानता हूँ। अन्य लोग तो केवल रस्सी पकड़नेवाले हैं ॥२२२॥

लोहे से उठा हुआ मल (जंग) उसी से उठकर उसी को खा लेता है (नष्ट कर देता है)। इसी प्रकार अत्यन्त धावनचारी (भोजन, वस्त्र आदि की ही चिन्ता में रहने वाले) को अपने कर्म ही दुर्गति को पहुँचा देते हैं ॥२४०॥

(जो) दूसरों का निन्द्यकर्म अच्छी तरह देखता है तथा अपना निन्द्यकर्म कठिनता से देख पाता है, (ऐसा) शठ व्यक्ति कलि की भाँति छल के द्वारा दूसरों के निन्द्यकर्मों को भूसे की तरह फैला देता है तथा अपना (निन्द्यकर्म) ढँक लेता है ॥२५२॥

दूसरे से भिक्षा माँगने से कोई भिक्षु नहीं होता है, सम्पूर्ण धर्मों को ग्रहण करके भी (कोई) भिक्षु नहीं होता है, (बल्कि) जो इस संसार में पुण्य एवं पाप को छोड़कर ब्रह्मचर्यवान् (होता है) तथा प्रारब्धवश इस संसार में विचरण करता है, वही भिक्षु कहा जाता है ॥२६६–२६७॥

सभी संस्कार अनित्य हैं, ऐसा जब बुद्धि से व्यक्त देखता है तब दुःखों पर दुःख प्रकट करता है, यही विशुद्धि का मार्ग है ॥२७७॥

सभी संस्कार दुःखकारी हैं, इस प्रकार जब बुद्धि से व्यक्ति देखता है तब दुःखों पर दुःख प्रकट करता है, यही विशुद्धि का मार्ग है ॥२७८॥

सभी संस्कार अनात्म हैं, इस प्रकार जब बुद्धि से व्यक्ति देखता है तब दुःखों पर दुःख प्रकट करता है, यही विशुद्धि का मार्ग है ॥२७९॥

जो राष्ट्र के असंयत धन को खाता है, उसके लिए अग्नि की शिखा सदृश तप्त लौह-खण्ड को खा लेना श्रेयस्कर है ॥३०८॥

दिन में सूर्य तपता है, रात में चन्द्रमा चमकता है, (युद्ध में) सन्नद्ध क्षत्रिय तपता है और ध्यान में लीन रहनेवाला ब्राह्मण तपता है। परन्तु भगवान् बुद्ध अपने तेज से रात-दिन तपते हैं ॥३८७॥

न जटाओं से, न गोत्र से, न जाति से कोई ब्राह्मण होता है (किन्तु) जिसमें सत्य और धर्म रहता है, वही पवित्र है और वही ब्राह्मण है ॥३९३॥

हे दुर्मेध ! तेरी जटाओं एवं काले मृगचर्म से क्या (लाभ) ? तुम्हारा हृदय तो गहन (काला) है और बाहरी रूप का परिमार्जन करते हो ॥ ॥३९४॥

धूलि-धूसरित, दुर्बल, धमनीमात्र निश्शेष एवं अकेले वन में ध्यान करनेवाले प्राणी को मैं ब्राह्मण कहता हूँ ॥३९५॥

———

धनिय-सुत्तं

(धनियो गोपो—)

"पक्कोदनो दुद्धखीरोहमस्मि अनुतीरे महिया समानवासो।
छन्ना कुटि, आहितो गिनि, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।" १।

(भगवा—)

"अक्कोधनो विगतखिलोहमस्मि, अनुतीरे महियेकरत्तिवासो।
विवटा कुटि, निब्बुतो गिनि, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।" २।

(धनियो गोपो—)

"अन्धकमकसा न विज्जरे, कच्छे रूळ्हतिणे चरन्ति गावो।
वुट्ठिं पि सहेय्युमागतं, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।" ३।

(भगवा—)

"बद्धा हि भिसी सुसंखता, तिण्णो पारगतो विनेय्य ओघं।
अत्थो भिसिया न विज्जति, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।" ४।

(धनियो गोपो—)

"गोपी मम अस्सवा अलोला, दीघरत्तं संवासिया मनापा।
तस्सा न सुणामि किञ्चि पापं, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।" ५

(भगवा—)

"चित्तं मम अस्सवं विमुत्तं, दीघरत्तं परिभावितं सुदन्तं।
पापं पन मे न विज्जति, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।" ६

(धनियो गोपो—)

"अत्तवेतनभतोहमस्मि, पुत्ता च मे समानिया अरोगा।
तेसं न सुणामि किञ्चि पापं, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।" ७

(भगवा—)

"नाहं भतकोस्मि कस्सचि, निब्बिट्ठेन चरामि सब्बलोके।
अत्थो भतिया न विज्जति, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।" ८

(धनियो गोपो—)

"अत्थि वसा अत्थि धेनुपा, गोधरणियो पवेणियो पि अत्थि।
उसभो पि गवम्पतीध अत्थि, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।" ९

(भगवा—)

"नत्थि वसा नत्थि धेनुपा, गोधरणियो पवेणियो पि नत्थि।
उसभो पि गवम्पतीध नत्थि, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।" १०।

(धनियो गोपो—)

"खीला निखाता असम्पवेधी, दामा मुञ्जमया नवा सुसण्ठाना।
नहि सक्खिन्ति धेनुपा पि छेत्तुं अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।" ११।

(भगवा—)

"उसभोरिव छेत्वा बन्धनानि, नागो पूतिलतं व दालयित्वा।
नाहं पुनुपेस्सं गब्भसेय्यं, अथ चे पत्थयसी पवस्स देव।" १२।
"निन्नं च थलं च पूरयंतो, महामेघो पवस्स तावदेव।
सुत्वा देवस्स वस्सतो, इममत्थं धनियो अभासथ।" १३।
"लाभा वत नो अनप्पका, ये मयं भगवन्तं अद्दसाम।
सरणं तं उपेम चक्खुम, सत्था नो होहि तुवं महामुनि।" १४।
"गोपी च अहं च अस्सवा, ब्रह्मचरियं सुगते चरामसे।
जातिमरणस्स पारगा, दुक्खस्सन्तकरा भवामसे।" १५।

(मारो पापिमा—)

"नन्दति पुत्तेहि पुत्तिमा, गोमिको गोहि तथेव नन्दति।
उपधी हि नरस्स नन्दना, न हि सो नन्दति यो निरूपधि।" १६।

(भगवा—)

"सोचति पुत्तेहि पुत्तिमा, गोमिको गोहि तथे व सोचति।
उपधी हि नरस्स सोचना, न हि सो सोचति यो निरुपधी"ति। १७।

—सुत्तनिपात

संस्कृत अनुवाद

धनियगोपः—पक्कौदनो दुग्धक्षीरोऽहमस्म्यनुतीरे मह्याः समानवास।
छन्ना कुटी आहितोऽग्निः अथः चेत् प्रार्थयसे प्रवर्ष देव ॥ १ ॥
भगवान्— अक्रोधनो विगताखिलोऽहमस्म्यनुतीरे मह्या एकरात्रिवासः।
विवृता कुटी निवृतोग्निः अथ चेत् प्रार्थयसे प्रवर्ष देव ॥ २ ॥
धनियगोपः—अन्धकमशकाः न विद्यन्ते कक्षे रूढतृणानि चरन्ति गावः।
वृष्टिमपि सहेरन् आगतामथ चेत्प्रार्थयसे प्रवर्ष देव ॥ ३ ॥
भगवान्— बद्धा हि वृसी सुसंस्कृता तीर्णः पारगतः विनेयमोघम्।
अर्थः वृस्या न विद्यतेऽथचेत्प्रार्थयसे प्रवर्ष देव ॥ ४ ॥
धनियगोपः—गोपी ममाश्रवालोला दीर्घरात्रं संवास्या मन आपा।
तस्याः न शृणोमि किञ्चित्पापमथ चेत्प्रार्थयसे प्रवर्ष देव ॥ ५ ॥

भगवान्— चित्तं ममाश्रवं विमुक्तं दीर्घरात्रं परिभावितं सुदान्तम् ।
पापं पुनः मे न विद्यतेऽथ चेत्प्रार्थयसे प्रवर्ष देव ॥ ६ ॥

धनियगोपः—आत्मवेतनभृतोऽहमस्मि पुत्राश्च मे सम्मान्याः अरोगाः ।
तेषां न श्रृणोमि किञ्चित्पापमथ चेत्प्रार्थयसे प्रवर्ष देव ॥ ७ ॥

भगवान्— नाहं भृतकोस्मि कस्यचिद् निर्विष्टेन चरामि सर्वलोके ।
अर्थो भृत्या न विद्यतेऽथ चेत्पार्थयसे प्रवर्ष देव ॥ ८ ॥

धनियगोपः—अस्ति वशास्ति धेनुपा गोधरिण्यः प्रवेण्योऽपिसन्ति ।
वृषभोऽपि गवाम्पतिरिहास्त्यथ चेत्प्रार्थयसे प्रवर्ष देव ॥ ९ ॥

भगवान्—नास्ति वशा नास्ति धेनुपा गोधरिण्यः प्रवेण्योऽपि न सन्ति ।
वृषभोऽपि गवाम्पतिरिह नास्ति अथ चेत्प्रार्थयसे प्रवर्ष देव ॥ १० ॥

धनियगोपः—कीलाः निखाताः असम्प्रव्यथिनः दामानि मुञ्जमयानि नवानि सुसंस्थानानि ।
नहि शक्ष्यन्ति धेनुपाः अपि छेत्तुमथ चेत्प्रार्थयसे प्रवर्ष देव ॥ ११ ॥

भगवान्—वृषभ इव छित्वा बन्धनानि नागः पूतिकालतामिव दलयित्वा ।
नाहं पुनः उपैष्यामि गर्भशय्यामथचेत्प्रार्थयसे प्रवर्ष देव ॥ १२ ॥

निम्नञ्च स्थलञ्च पूरयन् महामेघः प्रावर्षीत् तावदेव ।
श्रुत्वा देवं वर्षन्तं इममर्थं धनियोऽभाषिष्ट ॥ १३ ॥

लाभाः बत नोनल्पकाः ये वयम् भगवन्तमद्राक्ष्म ।
शरणं त्वामुपैमः चक्षुष्मन्तं शास्ता नः भव त्वं महामुने ॥ १४ ॥

गोपी चाहञ्चाश्रवौ ब्रह्मचर्यं सुगते चरावः ।
जातिमरणस्य पारगौ दुःखस्यान्तकरौ भवावः ॥ १५ ॥

मारः पाप्मान्—
नन्दति पुत्रैः पुत्रवान् गोमान् गोभिस्तत एव नन्दति ।
उपधिः नरस्य नन्दना न हि स नन्दति यो निरुपधिः ॥ १६ ॥

भगवान्—
शोचते पुत्रैः पुत्रवान् गोमान् गोभिस्तत एव शोचते ।
उपधिः नरस्य शोचना न हि स शोचते यो निरुपधिः ॥ १७ ॥

हिन्दी अनुवाद

धनियगोप—मैं पक्कौदन (खाद्यसामग्री-सम्पन्न), संगृहीत दुग्धवाला, मही नदी के तीर पर निवास करता हूँ। मेरी कुटिया छायी जा चुकी है तथा मैंने अग्नि की व्यवस्था भी कर ली है। अतः यदि आपको इन वस्तुओं की कामना है (आप प्रसन्न हैं) तो वर्षा (इनका भोग) करें ॥१॥

भगवान्—मैं क्रोधरहित हूँ, विगताखिल (सम्पूर्ण वस्तुओं से विरक्त) हूँ, नदी के तीर पर मेरा एक ही रात्रि का निवास होगा। मेरी कुटिया बिना छायी हुई (नंगी) है, मेरी आन्तरिक अग्नि बुझ चुकी है। अतः यदि आप प्रसन्न हैं तो वर्षा करें ॥२॥

धनियगोप---मक्खियाँ और मच्छर नहीं हैं, तट पर गायें प्ररूढ (बढ़ी हुई) घासें चरती हैं। आयी हुई वृष्टि भी सही जा सकती है। अतः यदि आप प्रसन्न हैं तो वर्षा करें ॥३॥

भगवान्---भलीभाँति अभ्यस्त आसन बाँध लिया गया है, पार किये जाने योग्य भवसागर को पार कर लिया गया है, अब आसन से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है, अतः यदि आप प्रसन्न हैं तो वर्षा करें ॥४॥

धनियगोप---गोपी मेरे अधीन रहनेवाली, अचञ्चल (गम्भीर), बहुत समय तक साथ रहने योग्य तथा मन को आकृष्ट करनेवाली है। उसके सम्बन्ध में मैं कोई पाप (दुष्कर्म) नहीं सुनता हूँ, अतः यदि आप प्रसन्न हैं तो वर्षा करें ॥५॥

भगवान्---मेरा चित्त मेरे अधीन, विमुक्त, दीर्घ समय तक परिभावित और सुनियन्त्रित है। मेरे पास कोई पाप (दुष्कर्म) नहीं है, अतः यदि आप प्रसन्न हैं तो वर्षा करें ॥६॥

धनियगोप---मैं अपनी कमाई का ही उपभोग करनेवाला हूँ तथा मेरे पुत्र प्रतिष्ठित और निरोग हैं। उन लोगों का कोई भी पाप (दुष्कर्म) मैं नहीं सुनता, अतः यदि आप प्रसन्न हैं तो वर्षा करें ॥७॥

भगवान्---मेरा कोई भरण-पोषण करनेवाला नहीं हैं, विरक्त होकर सम्पूर्ण संसार में विचरण करता हूँ। मुझको किसी मजदूरी आदि से प्रयोजन नहीं है, अतः यदि आप प्रसन्न हैं तो वर्षा करें ॥८॥

धनियगोप---मेरे पास बन्ध्या गाय, सद्यः बिआई हुई गाय, बछड़ेवाली गाय तथा बिना पाली गयी गाय है; बैल और गायों का स्वामी साँड़ यहाँ मेरे पास है, अतः यदि आप प्रसन्न हैं तो वर्षा करें ॥९॥

भगवान्---मेरे पास बन्ध्या गाय, सद्यः बिआई हुई गाय, बछड़े वाली गाय तथा बिना पाली गयी गाय नहीं है, बैल और गायों का स्वामी साँड़ यहाँ मेरे पास नहीं हैं, अतः यदि आप प्रसन्न हैं तो वर्षा करें ॥१०॥

धनियगोप---कील गाड़ दिये गये हैं, नयी-नयी मूँज की बनी हुई भलीभाँति बटी तथा कष्ट न देनेवाली रस्सियाँ (मेरे पास हैं) जिसको नयी बिआई गायें भी नहीं तोड़ सकेंगी। अतः यदि आप प्रसन्न हैं तो वर्षा करें ॥११॥

भगवान्---जिस प्रकार वृषभ बन्धनों को तथा हस्ती पोय की लता को तोड़ देता है (उसी प्रकार मैंने जन्म के कारणों को तोड़ दिया है) अब मैं पुन- गर्भावस्था में नहीं जाऊँगा। अतः यदि आप को पसन्द है तो वर्षा करें ॥१२॥

इतने में ही ऊँची-नीची एवं स्थल भूमि को भरता हुआ महामेघ वर्षा करने लगा। वर्षा करते हुए उस मेघ को सुनकर (देखकर) इस अर्थ को धनिय ने कहा ॥१३॥

जो भगवान् को हम लोगों ने देख लिया, यह कोई कम लाभ की बात नहीं है। हम लोग उसी चक्षुष्मान् (सर्वज्ञ) की शरण जायेंगे। हम लोगों के आप ही, महामुने, शास्ता हैं ॥१४॥

गोपी और मैं दोनों आज्ञा के अधीन हैं, बौद्ध-धर्म में हम लोग ब्रह्मचर्य का आचरण करेंगे। हम दोनों जन्म और मरणरूपी दुःख का अन्त करनेवाले हैं ॥१५॥

पापीमार—पुत्रवान् पुत्रों से प्रसन्न होता है तथा गायोंवाला गायों से ही प्रसन्न होता है। सम्पत्ति मनुष्य को प्रसन्न करनेवाली होती है, किन्तु जो सम्पत्तिविहीन है, वह कभी प्रसन्न नहीं होता है ॥१६॥

भगवान्—पुत्रवान् पुत्रों से कष्ट पाता है तथा गायोंवाला गायों से ही कष्ट पाता है। सम्पत्ति मनुष्य को कष्ट देनेवाली होती है, किन्तु जो सम्पत्तिहीन है, वह कभी कष्ट नहीं पाता है ॥१७॥

———

पटिच्चसमुप्पादो

तेन समयेन बुद्धो भगवा उरुवेलायं विहरति नेरञ्जराय तीरे बोधिरुक्खमूले पठमाभिसम्बुद्धो। अथ खो भगवा बोधिरुक्खमूले सत्ताह एकपल्लङ्केन निसीदि विमुत्तिसुखपटिसंवेदि। अथ खो भगवा रत्तिया पठमं यामं पटिच्चसमुप्पादं अनुलोमपटिलोमं मनसाकासि—अविज्जापच्चया संखारा, संखारपच्चया विञ्ञाणं, विञ्ञाणपच्चया नामरूपं, नामरूपपच्चया सळायतनं, सळायतनपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानं, उपादानपच्चया भवो, भवपच्चया जाति, जातिपच्चया जरामरणसोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा भवन्ति। एवं एतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति। अविज्जाय त्वेव असेसविरागनिरोधा संखारनिरोधो, संखारनिरोधा विञ्ञाणनिरोधो, विञ्ञाणनिरोधा नामरूपनिरोधो, नामरूपनिरोधा सळायतननिरोधो, सळायतननिरोधा फस्सनिरोधो, फस्सनिरोधा वेदनानिरोधो, वेदनानिरोधा तण्हानिरोधो, तण्हानिरोधा उपादाननिरोधो उपादाननिरोधा भवनिरोधो, भवनिरोधा जातिनिरोधो, जातिनिरोधा जरामरणसोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा निरुझन्ति। एवं एतस्स केवलस्स दुक्खक्खन्धस्स निरोधो होतीति। अथखो भगवा एवं अत्थं विदित्वा तायं वेलायं इमं उदानं उदानेसि—

यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स।
अथ'स्स कङ्खा वपयन्ति सब्बा, यतो पजानाति सहेतुधम्मं, ति॥

—विनयपिटके : महावस्तु

संस्कृत अनुवाद

तस्मिन् समये बुद्धो भगवान् उरुवेलायां विहरति निरञ्जरायाः नद्यास्तीरे बोधिवृक्षमूले प्रथमाभिसम्बुद्धः। अथ खलु भगवान् बोधिवृक्षमूले सप्ताहमेकपर्यङ्केन्यषदत्। विमुक्तिसुखं प्रतिसमवेदीत्। अथ खलु भगवान् रात्र्याः प्रथमे यामे प्रतीत्यसमुत्पादमनुलोमप्रतिलोमं मनस्यकार्षीत्—अविद्याप्रत्ययात् संस्कारः, संस्कारप्रत्ययात् विज्ञानं, विज्ञानप्रत्ययात् नामरूपे, नामरूपप्रत्ययात् षडायतनं, षडायतनप्रत्ययात् स्पर्शः, स्पर्शप्रत्ययात् वेदना, वेदनाप्रत्ययात् तृष्णा, तृष्णाप्रत्ययादुपादानमुपादानप्रत्ययाद्भवः, भवप्रत्ययाद् जातिः, जातिप्रत्ययाद् जरामरण–शोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासाः[1]

---

१. रीस डेविस ने 'उप+आयास', ऐसा विग्रह दिखाकर इसे बौद्धसंस्कृत शब्द कहा है और इसका अर्थ (a kind of) trouble, turbulence, tribulation, unrest, disturbance, unsettled condition दिया है। जहाँ तक इस शब्द की व्युत्पत्ति का प्रश्न है उप + आ + √यसु प्रयत्ने से बन सकता है।

भवन्ति। एवमेतस्य केवलस्य दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति। अविद्यायास्त्वेवाशेष-विरागनिरोधात् संस्कारनिरोधः, संस्कारनिरोधाद् विज्ञाननिरोधः, विज्ञाननिरोधाद् नामरूपनिरोधः, नामरूपनिरोधात् षडायतननिरोधः, षडायतननिरोधात् स्पर्शनिरोधः, स्पर्शनिरोधाद् वेदनानिरोधो, वेदनानिरोधात् तृष्णानिरोधः, तृष्णानिरोधाद् उपादान-निरोधः, उपादाननिरोधाद् भवनिरोधो, भवनिरोधाद् जातिनिरोधो, जातिनिरोधाद् जरामरणशोकदुःखपरिदेवदौर्मनस्योपायासाः निरुध्यन्ते। एवमेतस्य केवलस्य दुःखस्कन्धस्य निरोधो भवतीति। अथ खलु भगवानेनमर्थं विदित्वा तस्यां वेलाया-मिदमुदानमुदानीत्—

यदा ह वै प्रादुर्भवन्ति धर्माः आतापिनो ध्यायतो ब्राह्मणस्य।
अथास्य कांक्षाः व्यपयन्ति सर्वा यतः प्रजानाति सहेतुधर्ममिति॥

हिन्दी अनुवाद

उस समय भगवान् बुद्ध सुन्दर वेला में निरञ्जरा नदी के किनारे बोधिवृक्ष के नीचे सद्यः बोधि को प्राप्त होकर विहार कर रहे थे। इसी बीच भगवान् बुद्ध बोधिवृष के नीचे एक सप्ताह तक पर्यंक पर पड़े रहे और उन्होंने विमुक्ति-सुख प्राप्त किया। तदनन्दर भगवान् रात्रि के प्रथम याम में प्रतीत्य-समुत्पाद के विषय में अनुकूल एवं प्रतिकूल मन में सोचने लगे—अविद्या के प्रत्यय से संस्कार, संस्कारप्रत्यय से विज्ञान, विज्ञानप्रत्यय से नामरूप, नामरूपप्रत्यय से षडायतन, षडायतनप्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श-प्रत्यय से वेदना, वेदनाप्रत्यय से तृष्णा, तृष्णाप्रत्यय से उपादान, उपादानप्रत्यय से भव, भवप्रत्यय से जाति, जातिप्रत्यय से जरा, मरण, शोक, परिवेदना, दुःख, दौर्मनस्य एवं अशान्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार केवल इस दुःखस्कन्ध का उदय होता है। अविद्या-सम्बन्धी सम्पूर्ण विरागों के निरोध से संस्कार का निरोध, संस्कार-निरोध से विज्ञान-निरोध, विज्ञान-निरोध से नामरूप-निरोध, नामरूप-निरोध से षडायतन-निरोध, षडायतन-निरोध से स्पर्श-निरोध, स्पर्श-निरोध से वेदना का निरोध, वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध, तृष्णा के निरोध से उपादाननिरोध, उपादाननिरोध से भवनिरोध, भवनिरोध से जातिनिरोध, जातिनिरोध से जरा-मरण, शोक, दुःख, परिदेव, दौर्मनस्य एवं अशान्ति का नाश होता है। तदनन्तर इस अर्थ को जानकर उस वेला में भगवान् ने इस उदान को कहा—

तपस्वी, ध्यानमग्न ब्राह्मण के जब धर्म उत्पन्न होते हैं, तब उसकी सभी कांक्षाएँ (इच्छाएँ) समाप्त हो जाती हैं क्योंकि वह सहेतुधर्म को जानता है।

———

पालिसंगहो

४

बुद्धसासनप्पसारं

महापजापतिगोतमीगाथा

बुद्धवीर नमो त्यथु, सब्बसत्तानमुत्तम।
यो मं दुक्खा पमोचेसि, अञ्ञञ्च बहुकं जनं॥
सब्बदुक्खं परिञ्ञातं, हेतुतण्हा विसोसिता।
अरियट्ठंगिको मग्गो, निरोधो फुसितो मया॥
माता पुत्तो पिता भाता अय्यिका च पुरे अहुं।
यथाभुच्चं अजानन्ती, संसरी'हं अनिब्बिसं॥
दिट्ठो हि मे सो भगवा, अन्तिमोयं समुस्यो।
विक्खीणो जातिसंसारो, न'त्थि दानि पुनब्भवो॥
आरद्धवीरिये पहितत्ते, निच्चं दळहपरक्कमे।
समग्गे सावके पस्से, एसा बुद्धान वन्दना॥
बहूनं बत अत्थाय, माया जनयि गोतमं।
व्याधिमरणतुन्नानं दुक्खक्खन्धं व्यपानुदीति॥

—थेरीगाथा

संस्कृत अनुवाद

बुद्ध! वीर! नम इत्यस्तु सर्वसत्त्वानामुत्तम।
यो मां दुःखात् प्रामूमुचदन्यांञ्च बहुकान् जनान्॥
सर्वदुःखं परिज्ञातं हेतुतृष्णा विशोषिता।
आर्याष्टांगिको मार्गो निरोधः स्पृष्टो मया॥
माता पुत्रः पिता भ्रातार्यिका च पुरोऽभवम्।
यथाभूतताम् अजानन्ती संसारेऽहमनिर्विशम्॥
दृष्टो हि मे स भगवान् अन्तिमोऽयं समुच्छ्रयः।
विक्षीणो जातिसंसारो नास्तीदानीं पुनर्भवः॥
आरब्धवीर्ये प्रहितात्मनि नित्यं दृढपराक्रमे।
समग्रश्रावके पश्यैषा बुद्धानां वन्दना॥

बहूनं बतार्थाय मायाजनीत् गोतमम् ।
व्याधिमरणतुन्नानां दुःखस्कन्धं व्यपानुदत् ।।

हिन्दी अनुवाद

सम्पूर्ण प्राणियों में उत्तम हे बुद्ध ! वीर ! तुम्हें नमस्कार है, जिसने मुझे तथा अन्य बहुत लोगों को दुःख से मुक्त कर दिया । सब दुःख ज्ञात हो गये । हेतुभूत तृष्णा शुष्क कर दी गयी । मैंने आर्याष्टांगिक मार्ग और उसके निरोध का स्पर्श कर लिया है (जान लिया है), (मैं) माता, पुत्र, पिता, भ्राता और पत्नी पूर्वजन्म में हुई यथार्थ ज्ञान न होने के कारण मैंने संसार में प्रवेश किया ।

उस भगवान् को मैंने देख लिया (समझ लिया) है । यही हमारे लिए उत्तम उन्नति है । जन्मरूपी संसार क्षीण हो गया, अब फिर से जन्म नहीं है । पराक्रमशाली आत्मसन्धान परायण, बलशाली और सम्पूर्ण श्रावकों के विषय में देखो, यह बुद्धों की वन्दना है ।

बहुतों के प्रयोजन के लिए माया ने गौतम को पैदा किया, जिसने व्याधि और मरण से पीड़ित लोगों के दुःखस्कन्ध को काट दिया ।

———

मालुक्यपुत्त गाथा

मनुजस्स पमत्तचारिनो, तण्हा वड्ढति मालुवा विय।
सो पलवती हुराहुरं, फलमिच्छं व वनस्मि वानरो। १।
यं एसा सहती जम्मी, तण्हा लोके विसत्तिका।
सोका तस्य पवड्ढन्ति, अभिवड्ढं व वीरणं। २।
यो चे' तं सहती जम्मिं, तण्हं लोके दुरच्चयं।
सोका तम्हा पपतन्ति, उदबिन्दु व पोक्खरा। ३।
तं वो वदामि भद्दं वो, यावन्ते'त्थ समागता।
तण्हाय मूलं खणथ, उसीरत्थो व वीरणं।
मा वो नळं व सोतो व, मारो भञ्जि पुनप्पुनं। ४।
करोथ बुद्धवचनं, खणो वे मा उपच्चगा।
खणातीता हि सोचन्ति, निरयम्हि समप्पिता। ५।
पमादो रजो सब्बदा, पमादानुपतितो रजो।
अप्पमादेन विज्जाय, अब्बहे सल्लं अत्तनो'ति। ६।

—थेरगाथा

संस्कृत अनुवाद

मनुजस्य प्रमत्तचारिणः तृष्णा वर्धते मालुका इव।
स प्लवते असोरसुं फलमिच्छन्निव वने वानरः ॥१॥
यं एषा सहते जाल्मी तृष्णा लोके विषाक्तिका।
शोकाः तस्य प्रवर्धन्ते, अभिवृद्धमिव वीरणम् ॥२॥
यश्चैतां सहते जाल्मीं तृष्णां लोके दुरत्ययाम्।
शोकाः तस्मात् प्रपतन्ति उदकबिन्दु इव पुष्करात् ॥३॥
तद् वो वदामि भद्रं वो यावन्तोऽत्र समागताः
तृष्णायाः मूलं खनथ उशीरार्थमिव वीरणम्।
मा वो नाडमिव स्रोत इव मारः भाङ्क्षीत् पुनः पुनः ॥४॥
कुरुत बुद्धवचनं क्षणं वै मा उपात्यगात्।
क्षणातीताः हि शोचन्ते निरये समर्पिताः ॥५॥
प्रमादो रजः सर्वदा, प्रमादानुपतितो रजोः।
अप्रमादेन, विद्यया आवृहेत् शल्यमात्मन इति ॥६॥

हिन्दी अनुवाद

प्रमादी व्यक्ति की तृष्णा मालुका (मालुका एक प्रकार की अतिवर्धनशील लता है) की भाँति बढ़ती है। वह वन में फल चाहनेवाले वानर की भाँति एक प्राण से दूसरे प्राण पर कूदता रहता है। (पुनः पुनः जन्म लेता रहता है) ॥१॥

इस श्लोक में यह विषात्तिका जाल्मी तृष्णा जिसको सहन कर लेती है (पकड़ लेती है) उसके शोक बड़े हुए प्ररूढ़ कुश[१] की भाँति बढ़ते हैं ॥१॥

तथा इस संसार में जो व्यक्ति इस दुरत्यय जाल्मी तृष्णा को सहन कर लेता है उसके शोक, पुष्करपर्ण से जल-विन्दु की भाँति, उससे (उस व्यक्ति से) गिर जाते हैं (समाप्त हो जाते हैं) ॥३॥

आप लोग जितने यहाँ आये हुए हैं, सब के लिए, मैं उस कल्याणकारी तथ्य को कहता हूँ। जिस प्रकार उशीर के लिए वीरण का खनन किया जाता है, उसी प्रकार तृष्णा के मूल को आप लोग खनें (नष्ट करें)। जिस प्रकार नाड (नरकट) बार-बार (बढ़ने के लिए) काटा जाता है और सोता (बाढ़) को बार-बार रोका (छिन्न-भिन्न) जाता है, उसी प्रकार कामदेव (मार) आप लोगों का भविष्य में बार-बार शासन न करे ॥४॥

बुद्धवचनों को करो। एक क्षण भी व्यर्थ न जाय। जिसका समय व्यर्थ निकल जाता है वह नरक में पड़कर सोच करता है (कष्ट उठाता है) ॥५॥

रज ही प्रमाद है और प्रमाद से ही सदा रज की उत्पत्ति होती है। अप्रमाद और विद्या से अपने शल्य (सांसारिक दुःखों को यहाँ शल्य कहा गया है। सात प्रकार के शल्य बताये गये हैं—रागशल्य, दोषशल्य, मोहशल्य, मानशल्य, दृष्टिशल्य, शोकशल्य और कथनकथाशल्य) को निकाल फेकें ॥६॥

---

१. मॉनियर विलियम ने नपुंसक लिंग में 'वीरण' शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया है—a fragrant grass, Andropogon Muricatus. तथा उशीर का अर्थ the fragrant root of the plant Andropogon Muricatus.

लंकाविजयो

सब्बलोकहितं कत्वा पत्वा सन्तिं खणं परं।
परिनिब्बानमञ्चम्हि निपन्नो लोकनायको ॥ १ ॥
देवता सन्निपातम्हि महन्तम्हि महामुनि।
सक्कं तत्र समीपट्ठं अवोच वदतं वरो ॥ २ ॥
विजयो लाळविसयो सीहबाहुनरिन्दजो।
एसो लंकं अनुप्पत्तो सत्ताभच्चसतानुगो ॥ ३ ॥
पतिट्ठिस्सति देविन्द लङ्कायं मम सासनं।
तस्मा सपरिवारं तं रक्ख लंकञ्च साधुकम् ॥ ४ ॥
तथागतस्स देविन्दो वचो सुत्वा' व सादरो।
देवस्सु'प्पलवण्णस्स लंकारक्खं समप्पयि ॥ ५ ॥
सक्केन वुत्तमत्तो सो लङ्कं आगम्म सज्जुकं।
परिब्बाजकवेसेन रुक्खमूलं उपाविसि ॥ ६ ॥
विजयप्पमुखा सब्बे तं उपेच्च अपुच्छिसुं।
'अयं भो को नु दीपो'ति लङ्कादीपो'ति सो'ब्रवि ॥ ७ ॥
"न सन्ति मनुजा एत्थ न च हेस्सति वो भयं"।
इति वत्वा कुण्डिकाय ते जलेन निसिञ्चिय ॥ ८ ॥
सुत्तं च तेसं हत्थेसु लग्गेत्वा नभसा गमा।
दस्सेसि सोनिरूपेन परिचारिकयक्खिनी ॥ ९ ॥
एको तं वारियन्तोपि राजपुत्तेन अन्वगा।
"गामम्हि विज्जमानम्हि भवन्ति सुनखा" इति ॥ १० ॥
तस्सा च सामिनी तत्थ कुवेणी नाम यक्खिनी।
निसीदि रुक्खमूलम्हि कन्तन्ती तापसी विय ॥ ११ ॥
दिस्वान सो पोक्खरिणिं निसिन्नं तं च तापसिं।
तत्थ नहात्वा पिवित्वा चा'दाय च मुळालयो ॥ १२ ॥
वारिञ्च पोक्खरे हे'व वुट्ठासि सा तं अब्रवि।
भक्खो'सि मम तिट्ठा'ति आळ्हाबद्धो व सो नरो ॥ १३ ॥
परित्तसुत्ततेजेन भक्खेतुं सा न सक्कुणि।
याचियन्तोपि तं सुत्तं ना'दा यक्खिनिया नरो ॥ १४ ॥
तं गहेत्वा सुरुङ्गायं रुदन्तं यक्खिनी खिपि।
एवं एकेकसो तत्थ खिपि सत्तसतानि'पि ॥ १५ ॥
अनायन्तेसु सब्बेसु विजयो भयसंकितो।
नद्धपञ्चायुधो गन्त्वा दिस्वा पोक्खरिणिं सुभं ॥ १६ ॥

अपस्सि उत्तिण्णपदं हसन्ति (पस्सन्ति) चे'व तापसिं ।
"इमाय खलु भच्चा मे गहिता नू" ति चिन्तिय ॥ १७ ॥
"किन्न पस्ससि भच्चे मे भोतित्वं ?" इति आह तां ।
"किं राजपुत्त भच्चेहि ? पिव न्हाया" त्याह सा ॥ १८ ॥
"यक्खिनी ताव, जानाति मम जातिं"ति निच्छितो ।
सीघं सनामं सावेत्वा धनुं सन्धायु'पागतो ॥ १९ ॥
यक्खिं आदाय गीवाय नाराचवलयेन सो ।
वामहत्थेन केसेसु गहेत्वा दक्खिणेन तु ॥ २० ॥
उक्खिपित्वा असिं आह "भच्चे मे देहि दासि'तं ।
मारेमी"ति भयट्टा सा जीवितं याचि यक्खिनी ॥ २१ ॥
"जीवितं देहि मे सामि' रज्जं दस्सामि ते अहं ।
करिस्सामि' इत्थिकिच्चञ्च अञ्ञं किञ्चि यथिच्छितं" ॥२२॥
अदूभत्थाय सपथं सो तं यक्खिं अकारयि ।
"आनेहि भच्चे सीघं" ति वुत्तमत्ता' व सा' नयि ॥ २३ ॥
"इमे छाता"ति वुत्ता सा तण्डुलादीनि निद्दिसि ।
भक्खितानं वाणिजानं नावट्ठं विविधं बहु ॥ २४ ॥
भच्चा ते साधयित्वान भत्तानि व्यञ्जनानि च ।
राजपुत्तं भोजयित्वा सब्बे चा'पि अभुञ्जिसुं ॥ २५ ॥
दापितं विजयेनग्गं यक्खी भुञ्जिय पीणिता ।
सोळसवस्सिकं रूपं मापयित्वा मनोहरं ॥ २६ ॥
राजपुत्तं उपागञ्छि सब्बाभरणभूसिता ।
मापेसि रुक्खमूलस्मिं सयनं च महारहं ॥ २७ ॥
साणिया सुपरिक्खित्तं वितानसमलङ्कतं ।
तं दिस्वा राजतनयो पेक्खं अत्थं अनागतं ॥ २८ ॥
कत्वान ताय संवासं निपज्जि सयने सुखं ।
साणिं परिक्खिपित्वान सब्बे भच्चा निपज्जिसुं ॥ २९ ॥
रत्तिं तुरियसद्दञ्च सुत्वा गीतरवञ्च सो ।
अपुच्छि सहसेमानं "किं सद्दो ?" इति यक्खिनिं ॥ ३० ॥
"रज्जं च सामिनो देय्यं सब्बे यक्खा च घातिया ।
मनुस्सावासकारणा यक्खा मं घातेस्सन्ति हि" ॥ ३१ ॥
इति चिन्तिय यक्खी सा अब्रुवि राजनन्दनं ।
सिरीसवत्थु नामे'तं सामि यक्खपुरं इदं ॥ ३२ ॥
तत्थ जेट्ठस्स यक्खस्स लङ्कानगरवासिनी ।
कुमारिका इधानीता तस्सा माता च आगता ॥ ३३ ॥

आवाहमङ्गले तत्थ इधापि (सत्ताहं) उस्सवो महा।
वत्तते' तत्थ सद्दो' यं, महा ह'एस समागमो ॥ ३४ ॥
अज्जे'व यक्खे घातेहि' नहि सक्का इतो परं।
सो आहा'दिस्समाने ते घातेस्सामि कथं अहं? ॥ ३५ ॥
"तत्थ सद्दं करिस्सामि' तेन सद्देन घातय।
आवुधं मे'नुभावेन तेसं काये पतिस्संति ॥ ३६ ॥
तस्सा सुत्वा तथा कत्वा सब्बयक्खे अघातयि।
सयं'पि विजयो लद्धा यक्खराजपसाधनं ॥ ३७ ॥
पसाधनेहि सेसेहि तं तं भच्चं पसाधयि।
कतिपा'हं वसित्व'त्थ तम्बपण्णि उपागमि ॥ ३८ ॥
मापयित्वा तम्बपण्णिनगरं विजयो तहिं।
वसि यक्खिणिया सद्धिं अमच्चपरिवारितो ॥ ३९ ॥
नावाय भूमिं ओत्तिण्णा विजयप्पमुखा तदा।
किलन्ता पाणिना भूमिं आलम्बिय निसीदिसुं ॥ ४० ॥
तम्बभूमिरजोफुट्ठा तम्बपण्णि यतो अहु।
सो देसो चे'व दीपो च तम्बपण्णि ततो अहु ॥ ४१ ॥
सीहबाहु नरिन्दो सो सीहं आदिण्णवा इति।
सीहलो तेन सम्बन्धा एते सब्बेपि सीहला ॥ ४२ ॥

— महावंस

संस्कृत अनुवाद

सर्वलोकहितं कृत्वा प्राप्य शान्तिं क्षणं पराम्।
परिनिर्वाण-मञ्चे निपन्नो लोकनायकः ॥ १ ॥
देवतासन्निपाते महति महामुनिः।
शक्रं तत्र समीपस्थमवोचद् वदतां वरः ॥ २ ॥
विजयो लाटविषयः सिंहबाहुनरेन्द्रजः।
एष लङ्कामनुप्राप्तः सप्तभृत्यशतानुगः ॥ ३ ॥
प्रतिष्ठास्यति देवेन्द्र लङ्कायां मम शासनम्।
तस्मात् सपरिवारं तं रक्ष लङ्काञ्च साधुकम् ॥ ४ ॥
तथागतस्य देवेन्द्रः वचः श्रुत्वैव सादरः।
देवायोत्पलवर्णाय लङ्कारक्षां समर्पिपत् ॥ ५ ॥
शक्रेणोक्तमात्रः स लङ्कामागत्य सद्यस्कम्।
परिव्राजकवेषेण वृक्षमूलमुपाविक्षत् ॥ ६ ॥
विजयप्रमुखाः सर्वे तमुपेत्याप्राक्षुः।
"अयं भोः! को नु द्वीप? इति" "लङ्काद्वीप" इत्यब्रवीत् ॥ ७ ॥

न सन्ति मनुजा अत्र न च भविष्यति वो भयम् ।
इत्युक्त्वा कुण्डिकायास्तान् जलेन निषिच्य ॥ ८ ॥
सूत्रं च तेषां हस्तेषु लागयित्वा नभसागमत् ।
अद्राक्षीत् शुनिरूपेण परिचारकयक्षिणी ॥ ९ ॥
एकस्तां वार्यमाणोऽपि राजपुत्रेणान्वगात् ।
"ग्रामे विद्यमाने भवन्ति शुनकाः"—इति ॥ १० ॥
तस्याश्च स्वामिनी तत्र कुवेणी नाम यक्षिणी ।
न्यसदत् वृक्षमूले कर्तन्ती तापसीव ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा स पुष्करिणीं निषण्णां तां च तापसीम् ।
तत्र स्नात्वा पीत्वा चादाय च मृणालीः ॥ १२ ॥
वारि च, पुष्करे ह्येवोदस्थात्, सा तमब्रवीत् ।
"भक्ष्योऽसि मम तिष्ठे" त्याद्ध्याबद्ध इव स नरः ॥ १३ ॥
परीतसूत्रतेजसा भक्षयितुं सा नाशकत् ।
याच्यमानोऽपि तत्सूत्रं नादात् यक्षिण्यै नरः ॥ १४ ॥
तं गृहीत्वा सुरङ्गायां रुदन्तं यक्षिण्यक्षैप्सीत् ।
एवमेकैकशः तत्राक्षैप्सीत् सप्तशतान्यपि ॥ १५ ॥
अनायात्सु सर्वेषु विजयो भयशङ्कितः ।
नद्धपञ्चायुधो गत्वा दृष्ट्वा पुष्करिणीं शुभाम् ॥ १६ ॥
अद्राक्षीदुत्तीर्णपदां हसन्तीं (पश्यन्तीं) चैव तापसीम् ।
इमे खलु भृत्याः मे गृहीतान्वित्यचिचिंतत् ॥ १७ ॥
"किं न पश्यसि भृत्यान् मे भवति ! त्वमि" त्याह ताम् ।
"किं राजपुत्र ! भृत्यैः पिब स्नाहीत्याह" सा ॥ १८ ॥
यक्षिणी तावद् जानाति मम ज्ञातिमिति निश्चितम् ।
शीघ्रं स्वनाम श्रावयित्वा धनुः सन्धायोपागतः ॥ १९ ॥
यक्षिणीमादाय ग्रीवायां नाराचवलयेन सः ।
वामहस्तेन केशेषु गृहीत्वा दक्षिणेन तु ॥ २० ॥
उत्क्षिप्यासिमाह "भृत्यान् मे देहि दासि ! त्वम् ।
मारयामीति" भयार्त्ता सा जीवितमयाचिष्ट यक्षिणी ॥ २१ ॥
"जीवितं देहि मे स्वामिन ! राज्यं दास्यामि तेऽहम् ।
करिष्यामि स्त्रीकृत्यञ्चान्यत्किञ्चिद् यथेच्छितम्" ॥२२॥
अदूडभार्थाय शपथं स तां यक्षिणीमचीकरत् ।
"आनय भृत्यान् शीघ्रमिति" उक्तमात्रा सानैषीत् ॥ २३ ॥
"इमे क्षोद्धार" इत्युक्ता सा तण्डुलादि निरदिक्षत् ।
भक्षितानां वणिजां नौस्थं विविधं बहु ॥ २४ ॥

भृत्यास्ते साधयित्वा भक्तानि व्यञ्जनानि च।
राजपुत्रं भोजयित्वा सर्वे चाप्यभोक्षुः ॥२५॥
दापितं विजयेनाग्रं यक्षिणी भुक्त्वा प्रीणिता।
षोडशवार्षिकं रूपं मापयित्वा मनोहरम् ॥२६॥
राजपुत्रमुपागमत् सर्वाभरणभूषिता।
असीमपत् वृक्षमूले शयनञ्च महार्घम् ॥२७॥
शाण्या सुपरिक्षिप्तं वितानसमलंकृतम्।
तं दृष्ट्वा राजतनयः प्रेक्ष्यमर्थमनागतम् ॥२८॥
कृत्वा तया संवासं न्यापादि शयने सुखम्।
शाणीं परिक्षिप्य सर्वे भृत्याः न्यापादिषत ॥२९॥
रात्रौ तूर्यशब्दांश्च श्रुत्वा गीतरवञ्च सः।
अप्राक्षीत् सहशयमानां "कः शब्दः" इति यक्षिणीम् ॥३०॥
राज्यं च स्वामिने देयं सर्वे यक्षाश्च घात्याः।
मनुष्यावासकारणात् यक्षाः मां घातयिष्यन्ति हि" ॥३१॥
इति चिन्तयित्वा यक्षिणी साब्रवीत् राजनन्दनम्।
शिरीषवस्तु नाम्ना स्वामिन्! यक्षपुरमिदम् ॥३२॥
तत्र ज्येष्ठस्य यक्षस्य लङ्कानगरवासिनी।
कुमारिकेहानीता तस्याः माता चागता ॥३३॥
आवाहमंगले तत्रेहापि (सप्ताहं) उत्सवो महान्।
वर्त्तते तत्र शब्दोऽयं महान् ह्येष समागमः ॥३४॥
अद्यैव यक्षान् घातय न हि शक्याः इतः परम्।
स आह्लादश्यमानान् तान् घातयिष्यामि कथमहम् ॥३५॥
तत्र शब्दं करिष्यामि तेन शब्देन घातय।
आयुधं ममानुभावेन तेषां काये पत्स्यति ॥३६॥
तस्याः श्रुत्वा तथा कृत्वा सर्वयक्षानजीघतत्।
स्वयमपि विजयो लब्ध्वा यक्षराज-प्रसाधनम् ॥३७॥
प्रसाधनैः शेषैस्तं तं भृत्यं प्रसीषिधत्।
कतिपयाहमुषित्वात्र ताम्रपर्णीमुपागमत् ॥३८॥
मापयित्वा ताम्रपर्णीनगरं विजयस्तत्र।
अवात्सीत् यक्षिण्याः सध्रीङ् अमात्यपरिवारितः ॥३९॥
नावा भूमिमुत्तीर्णाः विजयप्रमुखास्तदा।
क्लान्ताः पाणिना भूमिमालम्ब्य न्यषदन् ॥४०॥
ताम्रभूमिरजःस्पृष्टा ताम्रपर्णी यतोऽभूत्।
स देशश्चैव द्वीपश्च ताम्रपर्णी ततोऽभूत ॥४१॥

सिंहबाहु नरेन्द्रः स सिंहमादीर्णवान् इति।
सिंहलस्तेन सम्बन्धाद् एते सर्वेऽपि सैंहलाः ॥४२॥

हिन्दी अनुवाद

सभी लोगों का हित कर एवं उत्तम शान्ति को क्षणभर प्राप्त कर लोक-नायक (भगवान् बुद्ध) परिनिर्वाण मञ्च पर बैठे ॥१॥

वक्ताओं में श्रेष्ठ महामुनि ने देवताओं के महान् समूह में समीप बैठे हुए इन्द्र को कहा ॥२॥

लाट देश निवासी, सिंहबाहु राजा का यह विजय नामवाला लड़का, सात सौ भृत्यों से अनुगत हो, लङ्का गया ॥३॥

हे देवेन्द्र ! (यह) लङ्का में मेरा शासन प्रतिष्ठापित करेगा। अतः सपरिवार उसकी और लङ्का की भलीभाँति रक्षा करिये (अथवा सपरिवार उस साधु की और लङ्का की रक्षा करिये) ॥४॥

तथागत के वचन को सुनते ही, आदरयुक्त होकर देवेन्द्र ने उत्पलवर्ण को लङ्का की रक्षा का भार सौंपा ॥५॥

इन्द्र से कह देने मात्र से वह सद्यः लङ्का आकर परिव्राजकवेष में पेड़ के नीचे बैठा ॥६॥

सभी विजय आदि ने उसके पास आकर पूछा—"यह कौन-सा द्वीप है ?" "यह लङ्का द्वीप है" ऐसा उसने कहा ॥७॥

यहाँ पर न तो मनुष्य हैं और न तुम लोगों को कोई भय—ऐसा कहकर कुण्डिका के जल से अभिषेक करके और रक्षा-सूत्र को उन लोगों के हाथ में बाँधकर आकाश-मार्ग से चला गया। (इतने में ही) कुतिया के रूप में सेविका-यक्षिणी ने उसे देखा ॥८-९॥

"गाँव में तो कुत्ते होते ही हैं", (ऐसा कहकर) राजपुत्र के निवारण करने पर भी एक ने उसका पीछा किया ॥१०॥

उस कुतिया की स्वामिनी कुवेणी नाम की यक्षिणी वहीं (सूत) कातती हुई पेड़ के नीचे तापसी की तरह बैठी थी ॥११॥

वह पुष्करिणी और बैठी हुई उस तपस्विनी को देखकर (तथा) वहीं स्नान कर जल पीकर मृणालियों और जल को लेकर पुष्कर ही उठ खड़ा हुआ ! (यक्षिणी ने) उससे कहा—रुको, तुम हमारे भक्ष्य हो। वह व्यक्ति किंकर्तव्य विमूढ़ हो गया ॥१२-१३॥

बँधे हुए सूत्र के तेज के कारण वह (यक्षिणी) उसको खा न सकी। माँगने पर भी (उस) व्यक्ति ने उस सूत्र को यक्षिणी को नहीं दिया ॥१४॥

रोते हुए उसको पकड़कर यक्षिणी ने सुरंग में फेंक दिया। इसी प्रकार एक-एक करके सातों सौ (भृत्यों) को यहाँ फेंक दिया ॥१५॥

सभी (भृत्यों) के न आने पर विजय भय से आशंकित हो, पाँच अस्त्रों को बाँधकर, जाकर शुभ पुष्करिणी को देखकर उलटे पैरोंवाली और हँसती हुई (देखती हुई) तापसी को देखा। यही, ये मेरे भृत्य गृहीत किये गये हैं, ऐसा सोचा ॥१६-१७॥

"क्या आप मेरे भृत्यों को नहीं जानती हैं", ऐसा उससे कहा। "हे राजपुत्र ! भृत्यों से क्या प्रयोजन ? (जल) पीओ, स्नान करो", ऐसा उसने कहा ॥१८॥

यह निश्चित है कि यक्षिणी मेरी जाति को जानती है (अतः) शीघ्र ही अपने नाम सुनाकर धनुष चढ़ाकर (उसके) समीप गया ॥१९॥

गर्दन में धनुष की डोरी से (लगाकर) यक्षिणी को बायें हाथ से केशों को पकड़कर, तथा दाहिने हाथ से तलवार को ऊपर उठाकर कहा—"हे दासि, मेरे भृत्यों को दे दो (अन्यथा) मैं तुम्हें मार डालूँगा", इस प्रकार डरी हुई उस यक्षिणी ने (अपने) जीवन की भीख माँगी—"हे स्वामी, मुझे जीवन की भीख दो, तुम्हें मैं राज्य दूँगी, तुम्हारी पत्नी बनकर रहूँगी तथा और भी जैसा चाहोगे वैसा (कार्य) करूँगी" ॥२०-२२॥

सरलता से छल न करने के लिए उसने उस यक्षिणी से शपथ करायी। "भृत्यों को शीघ्र लाओ" ऐसा कहने मात्र से ही उसने ला दिया ॥२३॥

ये बुभुक्षित हैं, ऐसा उसको कहे जाने पर, उस यक्षिणी ने, नावों में रखे हुए भक्षित बनियों के विविध प्रकार के प्रचुर तण्डुलादि दिखलाये ॥२४॥

उन सब भृत्यों ने भी भात और व्यञ्जनों को पकाकर, राजपुत्र को भोजन कराकर, भोजन किया ॥२५॥

विजय के द्वारा पहले दिलाये गये भोजन को यक्षिणी खा-पीकर प्रसन्न हुई। सुन्दर सोलह वर्ष का अपना रूप बना सब आभूषणों से सुसज्जित हो राजपुत्र के पास गयी। वृक्ष के नीचे अत्यन्त बहुमूल्य तथा वितान से सुसज्ज और शाणी (विशेष प्रकार का पटकुटीर) से सुपरिक्षित (चारों ओर से पर्दा लगाकर) शय्या बिछायी। उस अभीप्सित भविष्यत् अर्थ (भविष्यकाल में अपने उद्देश्य) को देखकर उसके साथ संवास कर (वह) शय्या पर सुखपूर्वक पड़ गया। (और) पर्दा लगाकर सभी भृत्य भी पड़ गये ॥२६-२९॥

रात में तूर्य (वाद्य) के शब्दों और गीतों के शब्द को सुनकर साथ सोयी हुई यक्षिणी से उसने (विजय ने) "यह कैसा शब्द हो रहा है", ऐसा पूछा ॥३०॥

स्वामी को राज्य देना चाहिए, यक्षों को मरवा देना चाहिए; क्योंकि मनुष्यों के साथ रहने के कारण यक्ष मुझे मरवा डालेंगे, ऐसा सोचकर उस यक्षिणी ने राजपुत्र से कहा—हे स्वामी ! शिरीष वस्तु नाम का यह यक्षपुर है ॥३१-३२॥

इसमें ज्येष्ठ यक्ष की लंका निवासिनी कुमारी यहाँ लायी गयी है और उसकी माता भी (यहाँ) आयी है ॥३३॥

उसके विवाहोत्सव में यहाँ भी (एक सप्ताह तक) महान् उत्सव है। वहाँ यह शब्द हो रहा है। यह बहुत बड़ी भीड़ है ॥३४॥

आज ही (इसी समय) यक्षों को मरवा डालो (क्योंकि) इसके बाद वे नहीं मारे जा सकते हैं। उसने कहा—दिखलायी न पड़नेवाले उनको मैं कैसे मरवाऊँगा ॥३५॥

वहाँ (मैं) शब्द करूँगी, उन्हीं शब्दों के संकेत से मरवाना। मेरे अनुभाव से उनके शरीर पर ही अस्त्र गिरेंगे ॥३६॥

विजय ने उसकी बात सुनकर (तथा) वैसा कर सभी यक्षों को मरवा डाला। स्वयं भी यक्षराज के प्रसाधनों को प्राप्त कर, शेष प्रसाधनों से उन-उन भृत्यों को प्रसाधन-सम्पन्न किया। कुछ दिन वहाँ रहकर (वह) ताम्रपर्णी नदी के पास पहुँचा ॥३७-३८॥

वहाँ ताम्रपर्णीनगर का निर्माणकर, मंत्रियों से युक्त होकर, विजय ने यक्षिणी के साथ निवास किया ॥३९॥

उस समय नाव से भूमि पर उतरे हुए तथा थके हुए विजय आदि, हाथ से भूमि का सहारा लेकर, बैठे ॥४०॥

यतः ताम्रभूमि की धूलि का स्पर्श करके ताम्रपर्णी हुई, अतएव वह देश और द्वीप ताम्रपर्णी कहलाया ॥४१॥

सिंहबाहु राजा ने (यतः) सिंह को विदीर्ण किया उसी सम्बन्ध से (अतएव) वह सिंहल कहलाया और ये (यहाँ के निवासी) सभी सैंहल कहलाते हैं ॥४२॥

———

अनत्तवादो

अथ खो मिलिन्दो राजा येना'यस्मा नागसेनो तेनु'पसंकमि, उपसंकमित्वा आयस्मता नागसेनेन सद्धिं सम्मोदि, सम्मोदनीयं कथं सारणीयं वीतिसारेत्वा एकमन्तं निसीदि। आयस्मा पि खो नागसेनो पटिसम्मोदि, येने'व मिलिन्दस्स रञ्ञो चित्तं आराधेसि। अथ खो मिलिन्दो राजा आयस्मन्तं नागसेनं एतदवोच—कथं भदन्तो ञायति किन्नामोसि भन्ते'ति? नागसेनो'ति खो मं महाराज ञायामि, नागसेनो'ति खो मं महाराज सब्रह्मचारी समुदाचरन्ति, अपि च मातापितरो नामं करोन्ति नागसेनो'ति वा सूरसेनो'ति वा वीरसेनो'ति वा सीहसेनो'ति वा, अपि च खो महाराजा सञ्ञा समञ्ञा पञ्ञत्तिवोहारो नाममत्तं यदिदं नागसेनो'ति, न हे'त्थ पुग्गलो उपलब्भतीति। अथ खो मिलिन्दो राजा एवं आह—सुणन्तु मे भोन्तो पञ्चसतायोनका असीतिसहस्सा च भिक्खू, अयं नागसेनो एवं आह—'न हे'त्थ पुग्गलो उपलब्भतीति' कल्लं नु खो तद् अभिनन्दितुं ति। अथ खो मिलिन्दो राजा आयस्मन्तं नागसेनं एतदवोच—सचे भन्ते नागसेन पुग्गलो नू'पलब्भति। को चरहि तुम्हाकं चीवरपिण्डपातसेनासनगिलानपच्चयभेसज्जपरिक्खारं देति? को तं परिभुञ्जति? को सीलं रक्खति? को भावनं अनुयुञ्जति? को मग्गफलनिब्बानानि सच्छिकरोति? को पाणं हनति? को अदिन्नं आदियति? को कामेसु मिच्छाचारं चरति? को मुसा भणति? को मज्जं पिबति? को पञ्चान्तरियकम्मं करोति? तस्मा न'त्थि कुसलं, न'त्थि अकुसलं, न'त्थि कुसलाकुसलानं कम्मानं कत्ता वा कारेता वा, न'त्थि सुकतदुक्कटानं कम्मानं फलं, विपाको। सचे, भन्ते नागसेन यो तुम्हे मारेति न'त्थि तस्सापि पाणातिपातो, तुम्हाकम्पि भन्ते नागसेन न'त्थि आचरियो न'त्थि उपज्झायो न'त्थि उपसम्पदा। नागसेनो'ति मं महाराजा सब्रह्मचारी समुदाचरन्ती'ति यं वदेसि, कतमो एत्थ नागसेनो, किन्नु खो भन्ते केसा नागसेनो'त्ति? नहि महाराजा'ति। लोमा नागसेनो'ति? नहि महाराजा'ति। नखा, दन्ता, तचो, मंसं, नहारु, अट्ठि, अट्ठिमिञ्जा, वक्कं, हदयं, यकनं, किलोमकं, पिहकं, पप्फासं, अन्तं, अन्तगुणं, उदरियं, करीसं, पित्तं, सेम्हं, पुब्बो, लोहितं, सेदो, मेदो, अस्सु, वसा, खेळो, सिङ्घाणिका, लसिका, मुत्तं, मत्थके, मत्थलुङ्ग' नागसेनो'ति? नहि महाराजा'ति। किन्नु खो भन्ते रूपं नागसेनो'ति? नहि महाराजा'ति। वेदना नागसेनो'ति? नहि महाराजा'ति। सञ्ञा नागसेनो'ति? नहि महाराजा'ति। संखारा नागसेनो'ति? नहि महाराजा'ति। विञ्ञाणं नागसेनो'ति? न हि महाराजा'ति। किं पन भन्ते

रूपवेदनासञ्ञासंखारविञ्ञाणं नागसेनो'ति? न हि महाराजा'ति। किं पन भन्ते अञ्ञत्र रूपवेदनासञ्ञासंखारविञ्ञाणं नागसेनो'ति? न हि महाराजा'ति। 'तं अहं भन्ते पुच्छन्तो पुच्छन्तो न पस्सामि नागसेनं, सद्दो येव नु खो भन्ते नागसेनो'ति? नहि महाराजा'ति। को पने'त्थ नागसेनो, अलिकं त्वं भन्ते भाससि मुसावादं, न'त्थि नागसेनो'ति।

अथ खो आयस्मा नागसेनो मिलिन्दं राजानं एतदवोच—त्वं खो सि महाराज खत्तियसुखुमालो अच्चन्तसुखुमालो, तस्स ते महाराज मज्झन्तिकसमयं तत्ताय भूमिया उण्हाय बालुकाय खरा सक्खरकठलबालुका मद्दित्वा पादेन गच्छन्तस्स पादा रुजन्ति, कायो किलमति, चित्तं उपहञ्ञति, दुक्खसहगतं कायविञ्ञाणं उप्पज्जति, किन्नु खो त्वं पादेनागतोसि उदाहु वाहनेना'ति? नाहं भन्ते पादेना'गच्छामि। रथेनाहं आगतो'स्मीति। स चे त्वं महाराज रथेनागतोसि रथं मे आरोचेहि। किन्नु खो महाराज ईसा रथो'ति? न हि भन्ते'ति। अक्खो रथो'ति? नहि भन्ते'ति। चक्कानि रथो'ति? नहि भन्ते'ति। रथपञ्जरं रथो'ति? नहि भन्ते'ति। रथदण्डको रथो'ति? नहि भन्ते'ति। युगं रथो'ति? नहि भन्ते'ति। रस्मियो रथो'ति'? नहि भन्ते'ति। पतोदलट्ठी रथो'ति? नहि भन्ते'ति। किं नु खो महाराज ईसा अक्खचक्करथपञ्जररथदण्डयुगरस्मिपतोदं रथो'ति? नहि भन्ते'ति। किंपन महाराज अञ्ञत्र ईसाअक्खचक्करथपञ्जररथदण्डयुगरस्मिपतोदं रथो'ति। नहि भन्ते'ति। तं अहं महाराजा पुच्छन्तो पुच्छन्तो न पस्सामि रथं। सद्दो येव नु खो महाराज रथो'ति। नहि भन्ते'ति। को पने'त्थ रथो? अलिकं त्वं महाराज भाससि मुसावादं, न'त्थि रथो। त्वं सि महाराज सकलजम्बुदीपे अग्गराजा। कस्स पन त्वं भायित्वा मुसावादं भाससि। सुणन्तु मे भोन्तो पञ्चसता योनका असीतिसहस्सा च भिक्खू। अयं मिलिन्दो राजा एवं आह—रथेनाहं आगतो'स्मीति। 'सचे त्वं महाराज रथेना'गतोसि रथं मे आरोचेहीति' वुत्तो समानो रथं न सम्पादेति कल्लन्नु खो तदभिनन्दितुं'ति।

एवं वुत्ते पञ्चसता योनका आयस्मतो नागसेनस्स साधुकारं दत्वा मिलिन्दं राजानं एतदवोचुं—इदानि खो त्वं महाराजा सक्कोन्तो भासस्सू'ति। अथ खो मिलिन्दो राजा आयस्मन्तं नागसेनं एतदवोच—नाहं भन्ते नागसेन मुसा भणामि। ईसञ्च पटिच्च, अक्खञ्च पटिच्च, चक्कानि च पटिच्च, रथपञ्जरञ्च पटिच्च, रथदण्डकञ्च पटिच्च, रथोति संञ्ञा समञ्ञा पञ्ञत्तिवोहारो नाम, पवत्ती'ति। साधु खो त्वं महाराज रथं जानासि। एवं एव खो महराज मय्हम्पि केसे च पटिच्च, लोमे च पटिच्च, मत्थलुङ्गञ्च पटिच्च, रूपञ्च पटिच्च, वेदनं च पटिच्च, सञ्ञं च पटिच्च, संखारे च पटिच्च, विञ्ञाणञ्च पटिच्च नागसेनो'ति संञ्ञा, समञ्ञा, पञ्ञत्ति, वोहारो नाममत्तं

पवत्तति। परमत्थतो पने'त्थ पुग्गलो 'नू'पलब्भति। भासितं पे'तं महाराज वजिराय भिक्खुनिया भगवतो सम्मुखा—

यथा हि अङ्गसम्भारा होति सद्दो रथो इति,
एवं खन्धेसु सन्तेसु होति सत्तोति सम्मुतीति॥

अच्छरियं भन्ते नागसेन! अब्भुतं भन्ते नागसेन!! अतिचित्रानि पञ्हपटिभानानि विस्सज्जितानि। यदि बुद्धो तिट्ठेय्य साधुकारं ददेय्य, साधु! साधु!! नागसेन, अतिचित्रानि पञ्हपटिभानानि विस्सज्जितानि इति।

—मिलिन्दपञ्हो

संस्कृत अनुवाद

अथ खलु राजा मिलिन्दो येनायुष्मान्नागसेनस्तेनोपससक्रमीत्। उपसङ्क्रम्य आयुष्मता नागसेनेन सध्रीङ् सममोदिष्ट। सम्मोदनीयां कथां साराणीयां व्यतिसार्य एकान्ते न्यषदत्। आयुष्मानानपि खलु नागसेनः प्रतिसम्मोदनीयेनैव मिलिन्दस्य राज्ञश्चित्तमारात्सीत्। अथ खलु मिलिन्दो राजा आयुष्मन्तं नागसेनमेतदवोचत्— "कथं भदन्तो ज्ञायते, किं नामाऽसि भदन्ते"ति?

"नागसेन इति खल्वहं, महाराज, ज्ञाये। नागसेन इति खलु मां, महाराज, सब्रह्मचारिणः समुदाचरन्ति। अपि च मातापितरौ नाम कुर्वन्ति नागसेन इति वा शूरसेन इति वा वीरसेन इति वा सिंहसेन इति वा। अपि च खलु, महाराज, संज्ञा समज्ञा प्रज्ञप्तिर्व्यवहारो नाममात्रं यदिदं नागसेन इति। न ह्यत्र पुद्गल उपलभ्यत" इति।

अथ खलु मिलिन्दो राजा एवमाह—"शृण्वन्तु मे, भवन्तः पञ्चशतानि यवनकाः, अशीतिसहस्राणि च भिक्षवः। अयं नागसेन एवमाह—"न ह्यत्र पुद्गल उपलभ्यत' इति। कल्यं नु खलु तदभिनन्दितुमिति"? अथ खलु मिलिन्दो राजाऽऽयुष्मन्तं नागसेन मेतदवोचत्—'चेद्, भदन्त नागसेन, पुद्गलो नोपलभ्यते, कस्तर्हि युष्मभ्यं चीवरपिण्डपातशयनासनग्लानप्रत्ययभैषज्यपरिष्कारं ददाति? कस्तं परिभुनक्ति? कः शीलं रक्षति? को भावनानुयुनक्ति? को मार्गफलनिर्वाणानि साक्षात्करोति? कः प्राणान् हन्ति? कोदत्तमाददाति? कः कामेषु मिथ्याचारं चरति? को मृषा भणति? को मद्यं पिबति? कः पञ्चानन्तर्यकर्म करोति? तस्मान्नास्ति कुशलम्। नास्त्यकुशलम्। नास्ति कुशलाकुशलानां कर्मणां कर्ता वा कारयिता वा। नास्ति सुकृतदुष्कृतानां कर्मणां फलं विपाकः। चेद्, भदन्त! नागसेन, यो युष्मान् मारयति, नास्ति तस्यापि प्राणातिपातः। युष्माकमपि, भदन्त! नागसेन!, नास्ति आचार्यः, नास्ति उपाध्यायः, नास्ति उपसम्पदा। 'नागसेन' इति मां महाराज, सब्रह्मचारिणः समुदाचरन्तीति यद् वदसि, कतमोऽत्र नागसेनः"?

'किन्नु खलु, भदन्त! केशा नागसेन" इति? "नहि, महाराज" इति। "लोमानि नागसेन" इति? "नहि महाराज" इति। "नखाः, दन्ताः, त्वचः,

मांसं, स्नायुः, अस्थि, अस्थिमज्जा, वृक्कं, हृदयं, यकृत्, क्लोमकं, प्लीहा, फुफ्फुसं, अन्त्रं, अन्त्रगुणः, औदर्यं, करीषं, पित्तं, श्लेष्म, पूतिः, लोहितं, स्वेदः, मेदः, अश्रु, वसा, खेलो (खेडः), सिंघाणिका, लसिका, मूत्रं, मस्तके मस्तलुङ्गं नागसेन" इति ?

"नहि महाराज !" इति। "किन्तु खलु, भदन्त, रूपं नागसेन" इति ? "नहि महाराज !" इति। "वेदना नागसेन" इति ? "नहि महाराज !" इति। "संज्ञा नागसेन" इति ? "नहि महाराज !" इति ! "संस्काराः नागसेन" इति ? 'नहि महाराज !" इति। "विज्ञानं नागसेन" इति। "नहि महाराज !" इति। "किम्पुनर्भदन्त, रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानानि नागसेन" इति ? "नहि महाराज !" इति किम्पुनर्भदन्त, अन्यत्र रूपवेदनासंज्ञासंस्कारविज्ञानेभ्यः नागसेन" इति ? "नहि महाराज !" इति। "तमहं, भदन्त, पृच्छन् पृच्छन् न पश्यामि नागसेनम्। 'नागसेन' शब्द एव नु खलु, भदन्त, नागसेन" इति ? "नहि महाराज !" इति। कः पुनरत्र नागसेनः ? अलीकं त्वं, भदन्त, भाषसे मृषावादं, नास्ति नागसेन" इति।

अथ खलु आयुष्मान्नागसेनो मिलिन्दं राजानमेतदवोचत्—"त्वं खल्वसि, महाराज, क्षत्रियसुकुमारोऽत्यन्तसुकुमारः। तस्य ते, महाराज, मध्याह्निकसमयः तप्तायां भूम्यामुष्णायां बालुकायां खराः शर्करकठलबालुकाः मर्दित्वा पादाभ्यां गच्छतः पादौ रुजतः, कायः क्लाम्यति, चित्तमुपहन्यते, दुःखसहगतं कायविज्ञानमुत्पद्यते। किन्तु खलु त्वं पादाभ्यामागतोऽसि, उताहो वाहनेनेति" ? नाहं, भदन्त, पादाभ्यामागच्छामि रथेनाहमागतोऽस्मीति"। "चेत्त्वं, महाराज, रथेनागतोऽसि, रथं मे आरोचय। किन्तु खलु, महाराज, ईषा रथ" इति ? "नहि भदन्ते"ति। अक्षो रथ" इति ? "नहि भदन्त !" इति। "चक्राणि रथ" इति ? "नहि भदन्त !" इति। "रथपञ्जरं रथ" इति ? "नहि भदन्त !" इति। "रथदण्डको रथ" इति ? "नहि भदन्त !" इति। "युगं रथ' इति ? "नहि भदन्त" ! इति। "रश्मयो रथ" इति ? "नहि भदन्त !" इति। "प्रतोदयष्टी रथ" इति ? "नहि भदन्त !" इति। 'किन्तु खलु, महाराज, ईषाचक्ररथपञ्जररथदण्डयुगरश्मिप्रतोदाः रथ" इति ? "नहि भदन्त !" इति। किम्पुनर्महाराज, अन्यत्र ईषाचक्ररथपञ्जररथदण्डयुगरश्मिप्रतोदेभ्यः रथ' इति ? "नहि, भदन्त !" इति। "तमहं, महाराज, पृच्छन् पृच्छन् न पश्यामि रथम्। (रथ) शब्द एव नु खलु, महाराज, रथ" इति ?

"नहि भदन्त !" इति। "कः पुनरत्र रथः ? अलीकं त्वं, महाराज, भाषसे मृषावादं नास्ति रथः ! त्वमसि महाराज, सकलजम्बूदीपेऽग्रराजः। कस्मात् पुनस्त्वं भीत्वा मृषावादं भाषसे ? शृण्वन्तु मे, भगवन्तः पञ्चशतानि यवनकाः, अशीतिसहस्राणि च भिक्षवः। अयं मिलिन्दो राजा एवमाह—"रथेनाहमागतोऽस्मीति !" 'चेत् त्वं, महाराज ? रथेनागतोऽसि, रथं मे आरोचयेत्युक्तः सन् रथं न सम्पादयति। कल्यं नु खलु तदभिनन्दितुमिति" ?

एवमुक्ते पञ्चशतानि यवनकाः आयुष्मते नागसेनाय साधुकारं दत्त्वा मिलिन्दं राजानमेतदवोचन्—"इदानीं खलु त्वं, महाराज !, शक्नुवन् भाषस्वेति ।" अथ खलु मिलिन्दो राजायुष्मन्तं नागसेनमेतदवोचत्—"नाहं, भदन्त नागसेन, मृषा भणामि । ईषां च प्रतीत्य, अक्षं च प्रतीत्य, चक्राणि च प्रतीत्य, रथपञ्जरं च प्रतीत्य, रथदण्डकं च प्रतीत्य, रथ इति संज्ञा समज्ञा प्रज्ञप्तिर्व्यवहारो नाममात्रं प्रवर्तत" इति ।

"साधु खलु त्वं, महाराज, रथं जानासि । एवमेव खलु, महाराज, मह्यमपि केशांश्च प्रतीत्य, लोमानि च प्रतीत्य मस्तलुङ्गं च प्रतीत्य, रूपं च प्रतीत्य, वेदनां च प्रतीत्य, संज्ञां च प्रतीत्य, संस्कारांश्च प्रतीत्य, विज्ञानं च प्रतीत्य, 'नागसेन' इति संज्ञा समज्ञा प्रज्ञप्तिर्व्यवहारो नाममात्रं प्रवर्तते । परमार्थतः पुनरत्र पुद्गलो नोपलभ्यते । भाषितमप्येतन्महाराज, वज्र्या भिक्षुण्या भगवतः सम्मुखे—

यथा ह्यङ्गसम्भारा भवन्ति शब्दो रथ इति ।
एवं स्कन्धेषु सत्सु भवति सत्त्व इति सम्मतिः ॥" इति॥

"आश्चर्यं, भदन्त नागसेन, अद्भुतं, भदन्त नागसेन । अतिचित्राणि प्रश्नप्रति—भानानि विसर्जितानि । यदि बुद्ध अस्थास्यत् , साधुकारं अदास्यत् । 'साधु साधु, नागसेन ! अतिचित्राणि प्रश्नप्रतिभानानि विसर्जितानि" इति ।

हिन्दी अनुवाद

एक समय आयुष्मान् नागसेन जहाँ थे वहाँ राजा मिलिन्द गये। जाने पर आयुष्मान् नागसेन के साथ बहुत प्रसन्न हुए। आनन्द देनेवाली सुसम्बद्ध कथा (समाचार) का आदान-प्रदान करके एक ओर एकान्त में बैठ गये। आयुष्मान् नागसेन ने भी आनन्ददायक व्यवहार से मिलिन्द राजा के चित्त का आराधन किया। तदनन्तर राजा मिलिन्द ने आयुष्मान् नागसेन से यह कहा—"हे भदन्त ! आप कैसे जाने जाते हैं, आपका क्या नाम है" ? "महाराज ! मैं 'नागसेन' इस रूप से जाना जाता हूँ। महाराज ! मित्रछात्र मुझे नागसेन कहते हैं। मेरे माता-पिता भी मेरा नाम नागसेन, शूरसेन, वीरसेन अथवा सिंहसेन ऐसा करते हैं (रखते हैं)। महाराज ! जो यह नागसेन है, वह नाममात्र का, संज्ञा, समज्ञा, प्रज्ञप्ति, व्यवहार है, न कि यहाँ कोई पृथक् पुद्गल पदार्थ पाया जाता है।"

तदनन्तर राजा मिलिन्द ने इस प्रकार कहा—हे पाँच सौयवन, तथा अस्सी हजार भिक्षुओ ! आपलोग सुनें—इस शरीर में पुद्गल नहीं उपलब्ध होता है, ऐसा यह नागसेन कहते हैं। इस बात को स्वीकार करना उचित ही है। तदनन्दर राजा मिलिन्द ने आयुष्मान् नागसेन से यह पूछा—हे भदन्त नागसेन ! यदि पुद्गल कोई वस्तु नहीं है, तो कौन तुमलोगों को चीवर, पिण्डपात, शयन, आसन, ग्लान, प्रत्यय, औषधि एवं परिष्कार देता है ? कौन भोग करता है ? कौन शील की रक्षा करता है ? कौन भावों का अनुयोग करता है ? कौन मार्गफल एवं निर्वाण का साक्षात्कार करता है ? कौन प्राणों को

मारता है ? कौन न दिये गये धन को ग्रहण करता है ? कौन कामनाओं में स्वतन्त्राचरण करता है ? कौन झूठ बोलता है ? कौन शराब पीता है ? कौन पंचानन्तर्यकर्म करता है ? इसलिए कुशल नहीं है। अकुशल नहीं है। कुशल एवं अकुशल कर्मों को करनेवाला एवं करानेवाला नहीं है। पुण्य एवं पाप कर्मों के फल और विपाक नहीं हैं। हे भदन्त नागसेन ! जो तुम लोगों को मारता है, उसके प्राणों का नाश नहीं है। हे भदन्त नागसेन ! तुमलोगों का भी कोई आचार्य नहीं है, कोई उपाध्याय नहीं है। कोई उपसम्पदा नहीं है। हे महाराज ! मुझको मित्रछात्र 'नागसेन' ऐसा कहते हैं, ऐसा जो तुम कहते हो, तो यहाँ नागसेन कौन है ? "क्या भदन्त ! ये केश नागसेन हैं ?" "हे महाराज ! नहीं"। "क्या रोम नागसेन हैं ?" "नहीं महाराज"। "नख, दाँत, चर्म, मांस, स्नायु, अस्थि, अस्थिमज्जा, वृक्क, हृदय, यकृत, फेफड़ा, प्लीहा, फुप्फुस, अँतड़ी, अन्त्रगुण, गर्भ, मल, पित्त, श्लेष्मा, पीब, रुधिर, स्वेद, मेदा, अश्रु, वसा, खेड़ी, नकटी (सिंघाणिका), लार, मूत्र, मस्तक और मस्तलुङ्ग नागसेन है ?" ऐसा नहीं महाराज। "हे भदन्त ! क्या रूप नागसेन हैं ?" "ऐसा नहीं महाराज"। "वेदना नागसेन है" ? "ऐसा नहीं महाराज"। "संज्ञा नागसेन है" ? "ऐसा नहीं महाराज"। "संस्कार नागसेन है" ? "ऐसा नहीं महाराज"। "हे भदन्त ! क्या रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान नागसेन है" ? "ऐसा नहीं महाराज"। "हे भदन्त ! रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान से अन्यत्र नागसेन है" ? "ऐसा नहीं महाराज"। "हे भदन्त ! आपसे बार-बार पूछता हुआ भी उस नागसेन को नहीं समझ पाता हूँ। हे भदन्त ! क्या 'नागसेन' शब्द ही नागसेन है" ? "ऐसा नहीं महाराज"। "यहाँ कौन नागसेन है" ? "हे भदन्त ! तुम असत्य हो, झूठ बोलते हो, नागसेन नहीं है"।

इसके बाद आयुष्मान् नागसेन ने मिलिन्द राजा को (से) पूछा—'हे महाराज, क्षत्रियकुमार, तुम अत्यन्त सुकुमार हो। हे महाराज, यह दोपहरी का समय है (अतः) जलती हुई भूमि, जलती हुई बालुका के ऊपर खर (तेज) मिट्टी के कंकण और बालुका का मर्दन करके पैदल आते हुए तुम्हारे पैर दुखते हैं, शरीर क्लान्त हो रहा है, चित्त मलिन हो रहा है, दुःख के साथ कायविज्ञान उत्पन्न हो रहा है ! क्या आप पैदल आये हैं अथवा सवारी से ? "हे भदन्त ! मैं पैदल नहीं आया हूँ, रथ से आया हूँ"।

"हे महाराज ! यदि आप रथ से आये हैं तो हमें रथ समझाइये। हे महाराज ! क्या ईषा (हरसा) रथ है" ? "ऐसा नहीं भन्ते"। "क्या अक्ष रथ है" ? "ऐसा नहीं भन्ते"। "क्या चक्के रथ हैं" ? "ऐसा नहीं भन्ते"। "क्या रथपंजर रथ है" ? "ऐसा नहीं भन्ते"। "क्या रथदण्ड रथ है" ? "ऐसा नहीं भन्ते"। "क्या जुआ रथ है" ? "ऐसा नहीं भन्ते"। "क्या रस्सियाँ रथ हैं" ? "ऐसा नहीं भन्ते"। "क्या कोड़ा रथ है" ? "ऐसा नहीं भन्ते"। "हे महाराज ! क्या ईषा, अक्ष, चक्र, रथपञ्जर, रथदण्ड, जुआ, रस्सी और कोड़ा (ये सब मिलकर) रथ हैं" "ऐसा नहीं

भन्ते"। "हे महाराज ! तो फिर क्या ईषा, अक्ष, चक्र, रथपंजर, रथदण्ड, जुआ, रस्सी और कोड़ा आदि से अन्यत्र कहीं रथ है"? "ऐसा नहीं भन्ते"। "हे महाराज ! आपको बार-बार पूछता हुआ भी मैं रथ नहीं समझ पाता हूँ। क्या (रथ) शब्द ही रथ है ?" "ऐसा नहीं भन्ते"। "तो क्या रथ है" ? हे महाराज। तुम असत्य हो, असत्य बोलते हो कुछ भी रथ नहीं है। हे महाराज ! तुम संपूर्ण जम्बूद्वीप में बड़े राजा हो, तो फिर किससे डरकर असत्य बोल रहे हो ? हे पाँच सौ यवन एवं अस्सी हजार भिक्षुओ, मुझसे सुनो, 'रथ से मैं आया हुआ हूँ' ऐसा यह मिलिन्द राजा कहता है। किन्तु यह पूछने हर कि यदि तुम रथ से आये हो तो मुझे रथ समझाओ, यह नहीं समझा पा रहा है। इसे स्वीकार करना उचित है ? ऐसा कहने पर पाँच सौ यवनों ने आयुष्मान् नागसेन को साधुवाद देकर मिलिन्द राजा से यह पूछा—"हे महाराज, आप समर्थ हैं, आप ही कहें।" इसके बाद राजा मिलिन्द ने नागसेन को (से) ऐसा कहा—"हे भन्ते नागसेन ! मैं झूठ नहीं बोल रहा हूँ। ईषा समझकर, अक्ष समझकर, चक्र समझकर, रथपञ्जर और रथदण्ड समझकर रथ ऐसी संज्ञा, समज्ञा, प्रज्ञप्ति, व्यवहार, नाममात्र प्रवर्तित होता है।"

हे महाराज ! आप ठीक जान रहे हैं। हे महाराज ! इसी प्रकार मेरे लिए भी केश समझकर, रोम समझकर, मस्तक समझकर, रूप समझकर, वेदना समझकर, संज्ञा समझकर, संस्कार समझकर, विज्ञान समझकर, नागसेन ऐसी संज्ञा, समज्ञा, प्रज्ञप्ति, व्यवहार नाममात्र को ही प्रवर्तित होता है। वस्तुतः पुद्गल नहीं ही मिलता है। महाराज ! वज्री भिक्षुणी ने भी भगवान् के सम्मुख यह कहा है—

"जिस प्रकार अङ्गसमूह रथशब्द से कहा जाता है इसी प्रकार (पाँचों) स्कन्धों के होने पर सत्त्व ऐसा कहा जाता है, यह मेरी सम्मति है"। "हे भन्ते नागसेन ! आश्चर्य है, अद्भुत है। अत्यन्त विचित्र ज्ञान आपने हमलोगों को दिये हैं। यदि बुद्ध होते तो साधुवाद देते। साधु ! साधु !! नागसेन ! अत्यन्त विचित्र ज्ञान आपने दिये हैं"।

पालि-व्याकरण

पालि-व्याकरण

पालि की वर्णसंघटना—पालि की वर्णसङ्घटना का विचार तीन बातों को ध्यान में रखकर किया जा सकता है—

१. पालि और संस्कृत की वर्णराशि की तुलना।

२. पालि की स्वर-सङ्घटना।

३. पालि की व्यञ्जन-सङ्घटना।

उपर्युक्त विभाजन को ध्यान में रखकर सम्पूर्ण पालि-ध्वनिसमूहों को दो विभागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) स्वर-ध्वनि-समूह।

(२) व्यञ्जन-ध्वनि-समूह।

मोग्गलान सम्प्रदाय के अनुसार पालि में कुल ४३ वर्ण होते हैं। परन्तु कच्चायन-सम्प्रदाय के अनुसार पालि में कुल ४१ वर्ण होते हैं। इन ४३ या ४१ वर्णों में क्रमशः १०, ८ स्वर है तथा ३३ व्यञ्जन।

स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, (ऍ) ए, (ऑ) ओ। पालि में 'अं' स्वर के अन्तर्गत नहीं पढ़ा जाता है। इसकी गणना व्यञ्जन में होती है। 'अः' पालि में पूर्णतया लुप्त हो गया है।

व्यञ्जन—क ख ग घ ङ

च छ ज झ ञ

ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न

प फ ब भ म

य र ल ळ व स ह अं

इन उपर्युक्त व्यञ्जनों में पाँच-पाँच वर्णों की वर्ग संज्ञा होती है। इस प्रकार पालि व्यञ्जन-समूह में पाँच वर्ग होते हैं। इन्हें क्रमशः कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग कहते हैं।

पालि में 'अं' की निग्गहीत संज्ञा होती है।

मात्राकाल-नियम (Law of Mora)

डब्ल्यू० गायगर महोदय ने पालि-भाषा एवं उसके साहित्य का बड़े परिश्रम के साथ अध्ययन किया, उस अध्ययन के परिणामस्वरूप उन्होंने जर्मनभाषा में 'पालि लिटरेचर उण्ड स्प्राख्वे' नाम की पुस्तक लिखी। श्रीगायगर ने 'संस्कृतभाषा की किन-

किन ध्वनियों का पालिभाषा में क्या-क्या स्वरूप हो गया', इसका पर्याप्त विवेचन करके 'मात्रा-काल-नियम' का निर्माण किया। यह बात दूसरी है कि उस नियम के अनेक अपवाद भी उन्हें मिले तथा मिलते हैं। परिभाषा का व्याकरण तथा उसके ध्वनि-परिवर्तनों के अध्ययन के समय इस मात्रा-काल-नियम पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। उन्होंने लिखा है--जैसा कि प्रायः मध्यभारतीय भाषाओं में देखा जाता है, पालिभाषा में किसी शब्द के अक्षर (syllable) की या तो केवल एक मात्रा, या दो मात्राएँ ही हो सकती हैं। दो मात्राओं से अधिक मात्राएँ कभी नहीं हो सकतीं। अक्षर स्वरान्त और व्यञ्जनान्त दो प्रकार का हो सकता है। स्वरान्त अक्षर में ह्रस्व स्वर (एक मात्रा) या दीर्घ स्वर (दो मात्राएँ) होंगे। व्यञ्जनान्त अक्षर में ह्रस्व स्वर (दो मात्राएँ) ही होगा। दीर्घ स्वरवाला स्वरान्त अक्षर और ह्रस्व स्वरवाला व्यञ्जनान्त अक्षर, इन दोनों की मात्राएँ दो-दो होती हैं। दीर्घ सानुस्वार स्वर नहीं होता। इस प्रकार 'मा-ला' शब्द में जिसमें दो दीर्घ स्वरवाले (चार मात्राओंवाले) स्वरान्त अक्षर हैं और 'गन्-तुम्' शब्द में, जिसमें दो ह्रस्व स्वरवाले (ह्रस्व स्वर की एक मात्रा होती है, अतः दो मात्राएँ होनी चाहिए, परन्तु यहाँ सानुस्वार स्वर की दो मात्राएँ मानी जाती हैं, अतः चार मात्राओं-वाले) व्यञ्जनान्त अक्षर हैं, चार-चार मात्राएँ उच्चारण की दृष्टि से होती हैं।

इस नियम के कारण व्यञ्जनान्त अक्षर में संस्कृत में संयुक्ताक्षर के पहले यदि दीर्घ स्वर हो तो पालि में या तो संयुक्ताक्षर के पहले का वह दीर्घ स्वर ह्रस्व स्वर हो जाता है, या संयुक्ताक्षर के पहले का वह दीर्घ स्वर रह जाता है और संयुक्ताक्षर, असंयुक्ताक्षर में परिवर्तित हो जाता है, यथा--

संस्कृत जीर्ण>पालि जिण्ण। यहाँ पर संयुक्ताक्षर के पहले का दीर्घ स्वर पालि में ह्रस्व हो गया है। इसी प्रकार सं० मांस>पा० मंस, सं० नदीम्>पा० नदिं, सं० लाक्षा>पा० लाखा, सं० दीर्घ>पा० दीघ। यहाँ पर संयुक्ताक्षर के पहले का दीर्घ स्वर रह गया तथा संयुक्ताक्षर का असंयुक्ताक्षर हो गया है।

कुछ और भी ऐसे परिवर्तन पाये जाते हैं जिन्हें इस नियम के अनुसार सरलता से समझा जा सकता है।

१. (क) जहाँ संस्कृत में संयुक्ताक्षर के पूर्व ह्रस्व स्वर है वहीं उससे विकसित पालि-भाषा में असंयुक्ताक्षर के पूर्व दीर्घ स्वर हो जाता है, यथा--

सं० सर्षप>पा० सासप (* सस्सप के स्थान पर)

सं० वल्क>पा० वाक (* वक्क के स्थान पर)

(ख) जहाँ संस्कृत में असंयुक्त व्यञ्जन के पूर्व दीर्घ स्वर है वहीं पालि में संयुक्त व्यञ्जन के पूर्व ह्रस्व स्वर है, यथा--

सं० आवृहति>पा० अब्बहति

सं० नीड>पा० निड्ड

सं० उदूखल>पा० उदुक्खल

(ग) यतः ह्रस्व सानुस्वार स्वर की दो मात्रा, पालि में दीर्घ की तरह मानी जाती है, शुद्ध दीर्घ स्वर के स्थान पर प्रायः सानुस्वार ह्रस्व स्वर हो जाता है, यथा—

सं॰ मत्कुण > पा॰ मंकुण (* माकुण या * मक्कुण के स्थान पर)
सं॰ शर्वरी > पा॰ संवरी (* सावरी या * सब्बरी के स्थान पर)
सं॰ शुल्क > पा॰ सुंक (* सूक या * सुक्क के स्थान पर)
सं॰ घर्षति > पा॰ घंसति (* घासति या * घस्सति के स्थान पर)

(घ) उपर्युक्त '(ग)' नियम का विपर्यय भी पाया जाता है, यथा—

सं॰ सिंह > पा॰ सीह
सं॰ विंशति > पा॰ वीसति, वीसं
सं॰ संरम्भ > पा॰ सारम्भ। सम् उपसर्ग के साथ दूसरे शब्दों की भी यही स्थिति होती है।

२. कभी-कभी संयुक्त व्यञ्जन से पूर्व दीर्घ स्वर रह जाता है। ऐसा विशेषकर सन्धियों में होता है, यथा—

सं॰ साद्य > पा॰ साज्ज (सा + अज्ज)
सं॰ यथाध्याशयेन > पा॰ यथाज्झासयेन (यथा + अज्झासयेन)

३. इस मात्रा-नियम के अनुसार ही जहाँ पर स्वर-भक्ति के द्वारा संयुक्त व्यञ्जन का विभाग किया जाता है वहाँ संयुक्त व्यञ्जन का पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर नियमतः ह्रस्व स्वर हो जाता है। इस तरह के प्रसङ्गों में एक मात्रावाले दो अक्षर दो मात्रावाले एक अक्षर का प्रतिनिधित्व करते हैं, यथा--

सं॰ सूर्य > पा॰ सुरिय (* सुय्य के स्थान पर)
सं॰ प्रकीर्ण > पा॰ पकिरिय
सं चैत्य > पा॰ चेतिय
सं॰ मौर्य > पा॰ मोरिय। इन अन्तिम दो उदाहरणों में 'ए' और 'ओ' ह्रस्व हैं।

ध्वनि-परिवर्तन

पालि में निम्नलिखित ध्वनियों के लिए प्रायः निम्नलिखित ध्वनियों का प्रयोग मिलता है।

स्वर-परिवर्तन

(१) 'अ' ध्वनि के लिए पालिभाषा में 'आ', 'इ', 'उ' तथा 'ए' ध्वनियाँ प्रयुक्त होती हैं। यथा--प्रत्यमित्रः = पच्चामित्तो, राजस्त्री = राजित्थि, निमज्जति = निमुज्जति, फल्गु = फेल्गु।

(२) 'आ' ध्वनि के लिए पालिभाषा में 'अ' तथा 'ए' ध्वनियों का प्रयोग होता है। यथा--लासिका = लसिका, मातृका = मेत्तिका।

(३) 'इ' ध्वनि के लिए अ, उ, ए तथा ओ ध्वनियाँ प्रयुक्त होती हैं। यथा— द्वित्रिकृत्वः = द्वत्तिक्खत्तुं, इषुः = उसु।

विष्णु = वेण्हु, अग्रमहिषी = अग्गमहेसी, इक्ष्वाकुः = ओक्काको।

(४) संस्कृत की 'ई' ध्वनि पालिभाषा में 'अ' ध्वनि के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यथा—कौसीद्यं = कोसज्जं।

(५) 'उ' ध्वनि अ, इ, ए तथा 'ओ' ध्वनियों के रूप में प्रयुक्त होती है। यथा— मुकुल = मकुल, पुरुष = पुरिस, डुण्डुभ = डेण्डुभ, प्रामुख्य = पामोक्ख।

(६) 'ऊ' ध्वनि के लिए पालिभाषा में 'अ' तथा 'ओ' ध्वनियाँ प्रयुक्त होती हैं। यथा—कूर्पर = कप्पर, गुडूची = गोळोची।

(७) पालिभाषा में ऋ तथा ऌ स्वरों का प्रतिनिधित्व करनेवाले स्वर—

पालिभाषा में ऋ ध्वनि अ, इ, उ, र् ध्वनियों के रूप में प्रयुक्त की जाती है। प्रायः ये परिवर्तन पड़ोसी स्वर के कारण होते हैं। उदाहरण के लिए ओष्ठस्थानीय व्यञ्जनों के बाद आनेवाली ऋ ध्वनि 'उ' में परिवर्तित हो जाती है, यथा—पृथवी = पुथवी।

ऋक्षः = अच्छः, पृषत् = पसद, ऋण = इण, वृश्चिक = विच्छिक, ऋजु = उजु, ऋषभ = उसभ, बृहन्त = ब्रहन्त।

'ऋ' कभी-कभी 'रु' ध्वनि के रूप में प्रयुक्त होती है, यथा—वृक्ष = रुक्ख।

'ऌ' ध्वनि के लिए 'उ' ध्वनि का प्रयोग पालिभाषा में मिलता है, यथा— क्लृप्त = कुत्त।

(८) ए तथा ओ ध्वनियों के लिए पालि में कभी-कभी इ तथा उ ध्वनियाँ प्रयुक्त होती हैं। यथा—प्रतिवेश्यक = पटिविस्सक, श्रोष्यामि = सुस्सम, गोनाम् = गुन्नं।

व्यञ्जन-परिवर्तन

(१) पालिभाषा में असंयुक्त 'क' ध्वनि के लिए प्रायः 'ख, ग, ट, क्क, व तथा 'य' ध्वनियों का प्रयोग होता है। यथा—कुब्ज = खुज्ज, प्रतिकृत्य = पटिगच्च, कक्कोलं = टक्कोलं, भिषक् = भिसक्को, शुक = सुव, लौकिक = लोकिय।

(२) 'ग' ध्वनि के लिए पालिभाषा में 'क' एवं 'घ' ध्वनियों का प्रयोग मिलता है। यथा—अगुरु = अकलु, गृहं = घरं (घर शब्द संस्कृत भी है)

(३) 'घ' ध्वनि के लिए 'ख' और 'ह' ध्वनि का प्रयोग पालिभाषा में होता है। यथा—परिघ = पलिख, प्राघुणः = पाहुणो।

(४) 'च' ध्वनि के लिए 'ज' तथा 'त' ध्वनि। यथा—स्रुच् = सुजा, चिकित्सा = तिकिच्छा।

(५) 'ज' ध्वनि के लिए 'च', 'द' तथा 'य' ध्वनि का प्रयोग। यथा— प्राजयति = पाचेति, ज्योत्स्ना = दोसिना, निज = निय।

(६) 'ट' ध्वनि 'ठ', 'ड', ल, ळ ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है। यथा— कण्टक = कण्ठक, स्फटिक = फलिक, आटविक = आळविक।

(७) 'ड' के लिए 'ळ' ध्वनि का प्रयोग। यथा—बडवा = बळ्वा।

(८) त के लिए 'ट' 'थ' 'द' ध्वनि का प्रयोग। यथा—आर्त = अट्टो, तुषः = थुसो, वितस्तिः = विदत्थि।

(९) 'ध' के लिए 'भ' 'ह' 'ळ्ह' ध्वनि का प्रयोग। यथा—अधिरोहण = अभिरोहण, श्रद्धाति = सद्दहति, द्वैधकं = द्वेळ्हकं।

(१०) 'य' के लिए 'व' का प्रयोग। आयुध = आवुध।

(११) 'ह' के लिए 'ध' और 'भ' ध्वनि का प्रयोग। यथा—इह = इध, गह्वर = गब्भर।

(१२) 'क्ष' ध्वनि के लिए 'क्ख', 'च्छ', 'ज्झ', 'ख' और 'ग्घ' ध्वनियों का प्रयोग पालिभाषा में मिलता है। यथा—परीक्षा = परिक्खा, पक्ष—पच्छ, विज्ञापति = विज्झापेति, क्षुधा = खुधा, प्रक्षरति = पग्घरति।

(१३) 'ज्ञ' के लिए 'ञ्ञ' एवं 'ञ' ध्वनि का प्रयोग। यथा—राज्ञः = रञ्ञो, ज्ञानं = ञानं।

(१४) 'द्य' के लिए 'ज', 'ज्ज' का प्रयोग। द्युति = जुति। अद्य = अज्ज।

(१५) 'प्त' के लिए 'त्त' ध्वनि का प्रयोग। यथा—प्राप्त = पत्तो।

(१६) 'प्स' के लिए 'च्छ' का प्रयोग। यथा—अप्सरा = अच्छरा।

(१७) 'स्ख' के लिए 'ख' का प्रयोग। यथा—स्खलित = खलित।

(१८) 'स्थ' के लिए 'थ' एवं 'ठ' का प्रयोग। यथा—स्थूल = थूलो, स्थानं = ठानं।

(१९) स्प, स्फ, ह्य और ह्व के लिए क्रमशः फ, य्ह, व्ह का प्रयोग होता है। यथा—स्पन्दः = फन्दो, स्फटिकः = फटिको, मह्यं = मय्हं, आह्वानं = आव्हानं।

सन्धि-प्रकरण

यद्यपि किसी शब्द में, किसी भी कारण, स्वरात्मक या व्यञ्जनात्मक परिवर्तन-मात्र को सन्धि समझनी चाहिए, तथापि इस प्रसंग में एक ही शब्द में अथवा दो शब्दों के बीच, चाहे वे दोनों शब्द पृथक्-पृथक् प्रयुक्त हों या किसी समास-नियम के कारण एकत्र प्रयुज्यमान हों, बोलने की सुविधा की दृष्टि से प्रथम शब्द के अन्तिम अक्षर और द्वितीय शब्द के आदि अक्षरों के बीच किन्हीं नियमों के अनुसार जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें सन्धि कहा गया है। पालि-भाषा में ये सन्धियाँ तीन प्रकार की पायी जाती हैं—

(१) स्वर-सन्धि, (२) व्यञ्जन-सन्धि और (३) निग्गहीत-सन्धि।

अ—स्वर-सन्धि—

(१) सरो लोपो सरे (मो० १,२६) :—पालि-भाषा में यदि स्वर के बाद स्वर आवे तो प्रायः पूर्ववर्ती स्वर का लोप हो जाता है। यथा—

सद्धा + इन्द्रियं = सद्धिन्द्रियं

मे + अत्थि = मत्थि

(२) परो क्वचि (मो० १, २७) :--स्वर के बाद यदि स्वर आवे तो प्रायः परवर्ती स्वर का लोप हो जाता है। यथा--

सो + अपि = सोपि

चत्तारो + इमे = चत्तारोमे

(३) न द्वे वा (मो० १, २८) :--स्वर के बाद यदि स्वर हो तो दोनों स्वरों में से किसी का भी लोप, विकल्प से नहीं होता है। यथा--

लता + इव = { लता इव / लताव }

(४) युवण्णा न मे ओ लुता (मो० १, २९) :--यदि ऐसे स्वर के बाद, जिनका लोप हो गया हो इ और उ आवें तो इ और उ क्रमशः ए और ओ में परिवर्तित हो जाते हैं। यथा--

तस्स + इदं = तस्स् + इदं = तस्सेदं

वि + उदकं = व् + उदकं = वोदकं

(५) यवा सरे (मो० १, ३०) :--इ तथा उ के बाद कोई भी स्वर आवे तो इ और उ क्रमशः य और व में परिवर्तित हो जाते हैं। यथा--

वि + आकतो = व्याकतो

सु + आगतं = स्वागतं

(६) ए ओ नं (मो० १, ३१) :--ए और ओ के बाद कोई भी स्वर आवे तो ए, ओ क्रमशः य, व में परिवर्तित हो जाते हैं। यथा--

ते + अज्ज = त्यज्ज

पब्बते + अहं = पब्बत्याहं

सो + अहं = स्वाहं

(७) गोस्सावङ (मो० १, ३२) :--'गो' शब्द के बाद यदि कोई भी स्वर आवे तो 'गो' को गव आदेश होता है। यथा--

गो + अस्सं = गव = अस्सं = गवास्सं

ब--**व्यञ्जन-सन्धि**--

(१) व्यञ्जने दीघरस्सा (मो० १, ३३) :--यदि ह्रस्व या दीर्घ स्वर के बाद व्यञ्जन आवे तो प्रायः उन स्वरों का क्रमशः दीर्घ एवं ह्रस्व हो जाता है। यथा--

मुनि + चरे = मुनीचरे

सम्मा + एव = सम्मदेव

(२) सरम्हा द्वे (मो० १, ३४) :--स्वर के बाद व्यञ्जन को कभी-कभी द्वित्व हो जाता है। यथा--

प + गहो = पग्गहो ।

दु + कतं = दुक्कतं ।

(३) चतुत्थदुतिये स्वेसं ततियपठमा (मो० १, ३५) :—यदि किसी वर्ग के दो द्वितीय या दो चतुर्थ वर्ण संयुक्त हों तो पूर्ववर्ती वर्ण अपने ही वर्ग के क्रमशः प्रथम एवं तृतीय में परिवर्तित हो जाते हैं। यथा—

अ + खन्ति = अक्खन्ति

नि + घोसो = निग्घोसो

(४) वितिस्सेवे वा (मो० १, ३६) :—यदि 'इति' शब्द के बाद 'एव' शब्द आवे तो 'इति' को विकल्प से 'इत्व' आदेश हो जाता है। तथा—

इति + एव = { इत्वेव / इच्चेव

(५) एवोन मवण्णे (मो० १, ३७) :—यदि ए और ओ के बाद कोई भी वर्ण आवे तो ए, ओ को अ आदेश हो जाता है। यथा—

सो + सीलवा = ससीलवा

याचके + आगते = याचकमागते

स—निग्गहीत सन्धि

(१) निग्गहीतं (मो० १, ३८) :—कहीं-कहीं निग्गहीत का आगम हो जाता है। यथा—

त + खणे = तंखणे

अव + सिरो = अवंसिरो

(२) लोपो (मो० १, ३९) :—कहीं-कहीं निग्गहीत का लोप हो जाता है। यथा—

सं + रत्तो = सारत्तो

सं + रागो = सारागो

(३) परसरस्स (मो० १, ४०) :—निग्गहीत के बाद आनेवाले स्वर का कभी-कभी विकल्प से लोप हो जाता है। यथा—

त्वं + असि + { त्वंसि / त्वमसि

इदं + अपि = { इदम्पि / इदमपि

(४) वग्गेवग्गन्तो (मो० १, ४१) :—निग्गहीत के बाद यदि कोई व्यञ्जन आवे तो निग्गहीत उस व्यञ्जन के वर्ग के पञ्चम वर्ण में परिवर्तित हो जाता है। यथा—

तं + करोति = तङ्करोति

(५) येवहिसुञ्ञो (मो० १, ४२) :—यदि निग्गहीत के उपरान्त 'य', 'एव' एवं 'हि' शब्द आवें तो निग्गहीत कभी-कभी 'ञ्ञ' में परिवर्तित हो जाता है। यथा—

तं + एव = तञ्ञेव
यं + एव = यञ्ञदेव
तं + हि = तञ्हि

(६) ये सं स्स (मो० १, ४३) :—यदि 'य' बाद में आवे तो पूर्ववर्ती 'सं' के निग्गहीत का 'ञ' हो जाता है। यथा—

सं + यमो = सञ्ञमो

(७) मयदासरे (मो० १, ४४) :—यदि स्वर बाद में आवे तो पूर्ववर्ती निग्गहीत कहीं-कहीं म, य, द में परिवर्तित हो जाते हैं। यथा—

तं + अहं = तमहं
तं + इदं = तयिदं
तं = अलं = तदलं

नाम-प्रकरण

पालि-व्याकरण की दृष्टि से नाम-प्रकरण में संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण एवं अव्यय शब्दों के विभिन्न रूपों की बनावट का अध्ययन किया जाता है। संस्कृत-भाषा के शब्दों की भाँति पालि-भाषा में हलन्त शब्द नहीं मिलते, अजन्त ही मिलते हैं। इन सभी शब्दों के सातों विभक्तियों तथा आलपन (सम्बोधन) में विभिन्न रूप पाये जाते हैं। पालि-भाषा में द्विवचन नहीं होता। ये सातों विभक्तियाँ इस प्रकार हैं—

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
१. पठमा	सि	यो
२. दुतिया	अं	यो
३. ततिया	ना	हि
४. चतुत्थी	स	नं
५. पञ्चमी	स्मा	हि
६. छट्ठी	स	नं
७. सत्तमी	स्मि	सु
८. आलपन	सि (ग)	यो

संस्कृत-भाषा के व्याकरणों की वासना के कारण ही पालि-भाषा में चतुर्थी और षष्ठी दो विभक्तियाँ मानी जाती हैं। कच्चायन ने ('सम्पदाने चतुत्थी' २.६.२३ तथा 'सामिस्मिं छट्ठी' २.६.३१) एवं मोग्गलान ने ('चतुत्थी सम्पदाने' २.२६ तथा 'छट्ठी सम्बन्धे' २.४१) जो दो विभक्तियाँ मानीं उससे सम्प्रदान और सम्बन्ध इन दोनों अर्थों में भेद दिखलाना मात्र तात्पर्य है, किन्तु शब्दों के रूपों के आधार पर तो यह भेद कदापि ज्ञात नहीं हो सकता।

जहाँ तक अव्यय शब्दों का प्रश्न है, इनका रूप के कारण कोई परिवर्तन नहीं होता। संस्कृत के वैयाकरणों ने भी स्वमतानुसार तीनों लिङ्गों, सब विभक्तियों एवं सब वचनों में जिसका रुप न बदलता हो उसे अव्यय माना है।

(सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेसु, यन्न व्येति तदव्ययम् ॥) ।

यतः पालि-भाषा में पुंल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग ये तीन लिंग होते हैं अतः संज्ञाओं एवं सर्वनामों के इन लिंगों के आधार पर कुछ अतिप्रचलित मानक शब्दों के पृथक्-पृथक् एक-एक उदाहरण दिये जाते हैं और अवशिष्ट शब्दों के रूप इन्हीं के आधार पर समझना चाहिए--

नाम-शब्दों के रूप—

अकारान्त पुंल्लिंग 'बुद्ध' शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	बुद्धो (बुद्धे)	बुद्धा
दुतिया	बुद्धं	बुद्धे
ततिया	बुद्धेन	बुद्धेहि, बुद्धेभि
चतुत्थी	बुद्धाय, बुद्धस्स	बुद्धानं
पञ्चमी	बुद्धा, बुद्धम्हा, बुद्धस्मा	बुद्धेहि, बुद्धेभि
छट्ठी	बुद्धस्स	बुद्धानं
सत्तमी	बुद्धे, बुद्धम्हि, बुद्धस्मिं	बुद्धेसु
आलपन	बुद्ध, बुद्धा	बुद्धा

अकारान्त नपुंसकलिङ्ग 'फल' शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	फलं	फला, फलानि
दुतिया	फलं	फले, फलानि
आलपन	फल, फला	फलानि

अवशिष्ट रूप अकारान्त पुंल्लिङ्ग 'बुद्ध' शब्द के समान ही बनेंगे ।

अकारान्त स्त्रीलिंग 'लता' शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	लता	लता, लतायो
दुतिया	लतं	लता, लतायो
ततिया	लताय	लताहि, लताभि
चतुत्थी	लताय	लतानं
पञ्चमी	लताय	लताहि, लताभि
छट्ठी	लताय	लतानं

सत्तमी	लतायं, लताय	लतासु
आलपन	लते	लता, लतायो

इकारान्त पुंल्लिङ्ग 'मुनि' शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	मुनि	मुनी, मुनयो
दुतिया	मुनिं	मुनी, मुनयो
ततिया	मुनिना	मुनीहि, मुनीभि
चतुत्थी	मुनिनो, मुनिस्स	मुनीनं
पञ्चमी	मुनिना, मुनिम्हा, मुनिस्मा	मुनीहि, मुनीभि
छट्ठी	मुनिनो, मुनिस्स	मुनीनं
सत्तमी	मुनिम्हि, मुनिस्मिं	मुनिसु, मुनीसु
आलपन	मुनि, मुनी	मुनी, मुनयो

इकारान्त नपुंसकलिंग 'अट्ठि' (अस्थि) शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	अट्ठि	अट्ठीनि, अट्ठी
दुतिया	अट्ठिं	अट्ठीनि, अट्ठी
आलपन	अट्ठि	अट्ठीनि, अट्ठी

'अट्ठि' शब्द के अवशिष्ट रूप 'मुनि' की भाँति ही बनाये जायँगे।

इकारान्त स्त्रीलिंग 'रत्ति' शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	रत्ति	रत्ती, रत्तियो, रत्यो
दुतिया	रत्तिं	रत्ती, रत्तियो, रत्यो
ततिया	रत्तिया, रत्या	रत्तीहि, रत्तीभि
चतुत्थी	रत्तिया, रत्या	रत्तीनं
पञ्चमी	रत्तिया, रत्या	रत्तीहि, रत्तीभि
छट्ठी	रत्तिया, रत्या	रत्तीनं
सत्तमी	रत्तियं, रत्यं, रत्या, रत्तिं, रत्तो, रत्तिया	रत्तिसु, रत्तीसु
आलपन	रत्ति	रत्ती, रत्तियो, रत्यो

ईकारान्त पुंलिंग 'दण्डी' (संन्यासी) शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	दण्डी	दण्डी, दण्डिनो
दुतिया	दण्डिनं, दण्डिं	दण्डी, दण्डिनो, दण्डिने

ततिया	दण्डिना	दण्डीहि, दण्डीभि
चतुत्थी	दण्डिनो, दण्डिस्स	दण्डीनं
पञ्चमी	दण्डिना, दण्डिस्मा, दण्डिम्हा	दण्डीहि, दण्डीभि
छट्ठी	दण्डिनो, दण्डिस्स	दण्डीनं
सत्तमी	दण्डिनि, दण्डिम्हि, दण्डिस्मिं	दण्डिसु, दण्डीसु
आलपन	दण्डि, दण्डी	दण्डी, दण्डिनो

ईकारान्त नपुंसकलिंग 'सुखकारी' शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	सुखकारि	सुखकारीनि, सुखकारी
दुतिया	सुखकारिं	सुखकारीनि, सुखकारी
आलपन	सुखकारि	सुखकारीनि, सुखकारी

'सुखकारी' शब्द के अवशिष्ट रूप 'दण्डी' के समान ही शेष विभक्तियों में बनाये जायँगे।

ईकारान्त स्त्रीलिंग 'इत्थी' (स्त्री) शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	इत्थी	इत्थी, इत्थियो
दुतिया	इत्थियं, इत्थिं	इत्थी, इत्थियो
ततिया	इत्थिया	इत्थीहि, इत्थीभि
चतुत्थी	इत्थिया	इत्थीनं
पञ्चमी	इत्थिया	इत्थीहि, इत्थीभि
छट्ठी	इत्थिया	इत्थीनं
सत्तमी	इत्थियं, इत्थिया	इत्थीसु
आलपन	इत्थि	इत्थी, इत्थियो

उकारान्त पुंल्लिग 'भिक्खु' (भिक्षु) शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	भिक्खु	भिक्खू, भिक्खवो
दुतिया	भिक्खुं	भिक्खू, भिक्खवो
ततिया	भिक्खुना	भिक्खूहि, भिक्खूभि
चतुत्थी	भिक्खुनो, भिक्खुस्स	भिक्खूनं
पञ्चमी	भिक्खुना, भिक्खुस्मा, भिक्खुम्हा	भिक्खुहि, भिक्खूभि
छट्ठी	भिक्खुनो, भिक्खुस्स	भिक्खूनं
सत्तमी	भिक्खुस्मि, भिक्खुम्हि	भिक्खूसु, भिक्खूसु
आलपन	भिक्खु	भिक्खू, भिक्खवे, भिक्खवो

उकारान्त नपुंसकलिंग 'आयु' शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	आयु	आयूनि, आयू
दुतिया	आयुं	आयूनि, आयू
आलपन	आयु	आयूनि, आयू

'आयु' शब्द के अवशिष्ट रूप 'भिक्खु' की भाँति ही बनाये जायँगे।

उकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'धेनु' (गाय) शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	धेनु	धेनू, धेनुयो
दुतिया	धेनुं	धेनू, धेनुयो
ततिया	धेनुया	धेनूहि, धेनुभि
चतुत्थी	धेनुया	धेनूनं
पञ्चमी	धेनुया	धेनूहि, धेनूभि
छट्ठी	धेनुया	धेनूनं
सत्तमी	धेनुयं, धेनुया	धेनूसु
आलपन	धेनु	धेनू, धेनुयो

ऊकारान्त पुंल्लिंग 'धम्मञ्ञू' (धर्मज्ञ) शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	धम्मञ्ञू	धम्मञ्ञू, धम्मञ्ञुनो
दुतिया	धम्मञ्ञुं	धम्मञ्ञू, धम्मञ्ञुनो
ततिया	धम्मञ्ञुना	धम्मञ्ञूहि, धम्मञ्ञूभि
चतुत्थी	धम्मञ्ञुनो, धम्मञ्ञुस्स	धम्मञ्ञूनं
पञ्चमी	धम्मञ्ञुना, धम्मञ्ञुस्मा, धम्मञ्ञुम्हा	धम्मञ्ञूहि, धम्मञ्ञूभि
छट्ठी	धम्मञ्ञुनो, धम्मञ्ञुस्स	धम्मञ्ञूनं
सत्तमी	धम्मञ्ञुम्हि, धम्मञ्ञुस्मिं	धम्मञ्ञुसु
आलपन	धम्मञ्ञु	धम्मञ्ञू, धम्मञ्ञुनो

ऊकारान्त नपुंसकलिंग 'सयम्भू' (स्वयम्भू) शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	सयम्भु	सयम्भू, सयम्भुनि
दुतिया	सयम्भुं	सयम्भू, सयम्भुनि
आलपन	सयम्भु	सयम्भू, सयम्भुनि

अवशिष्ट रूप 'धम्मञ्ञू' की भाँति ही बनाये जायँगे।

ऊकारान्त स्त्रीलिंग 'वधू' शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	वधू	वधू, वधुयो
दुतिया	वधुं	वधू, वधुयो
ततिया	वधुया	वधूहि, वधूभि
चतुत्थी	वधुया	वधूनं
पञ्चमी	वधुया	वधूहि, वधूभि
छट्ठी	वधुया	वधूनं
सत्तमी	वधुयं, वधुया	वधूसु
आलपन	वधु	वधू, वधुयो

ओकारान्त पुंल्लिंग 'गो' (बैल) शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	गो	गावो, गवो
दुतिया	गावुं, गावं, गवं	गावो, गवो
ततिया	गावेन, गवेन, गावा, गवा	गोहि, गोभि
चतुत्थी	गावस्स, गवस्स, गवं	गवं, गुन्नं, गोनं
पञ्चमी	गवा, गावा, गावस्मा, गावम्हा, गवस्मा, गवम्हा	गोहि, गोभि
छट्ठी	गावस्स, गवस्स, गवं	गवं, गुन्नं, गोनं
सत्तमी	गावे, गवे, गवम्हि, गावम्हि, गावस्मिं, गवस्मिं	गावेसु, गवेसु गोसु
आलपन	गो	गावो, गवो

पालिभाषा में प्रायः एकारान्त शब्द नहीं मिलते हैं। 'गो' शब्द को छोड़कर अन्य ओकारान्त शब्द प्रायः नहीं मिलते हैं।

ओकारान्त नपुंसकलिंग 'चित्तगो' (विचित्र गौवोंवाला) शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	चित्तगु	चित्तगू, चित्तगूनि
दुतिया	चित्तगुं	चित्तगू, चित्तगूनि
आलपन	चित्तगु	चित्तगू, चित्तगूनि

शेष विभक्तियों में 'चित्तगो' शब्द के रूप 'आयु' शब्द की भाँति ही बनाये जायँगे।

स्त्रीलिङ्ग में भी ओकारान्त गो शब्द के रूप पुंल्लिग 'गो' शब्द की भाँति ही बनाये जायँगे।

इन शब्दों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी शब्द हैं, जिनके रूप ऊपर निर्दिष्ट किये गये रूपों से भिन्न पाये जाते हैं, उन शब्दों में से, उदाहरण के लिए, कुछ शब्दों के रूप नीचे दिये जा रहे हैं—

अकारान्त पुंल्लिग 'अत्त' (आत्मा) शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	अत्ता	अत्ता, अत्तानो
दुतिया	अत्तानं, अत्तं	अत्तानो, अत्ते
ततिया	अत्तेन, अत्तना	अत्तेहि, अत्तेभि, अत्तनेहि, अत्तनेभि
चतुत्थी	अत्तनो, अत्तस्स	अत्तानं
पञ्चमी	अत्तना, अत्तस्मा, अत्तम्हा	अत्तेहि, अत्तेभि, अत्तनेहि, अत्तनेभि
छट्ठी	अत्तनो, अत्तस्स	अत्तानं
सत्तमी	अत्तनि, अत्तस्मिं, अत्तम्हि, अत्ते	अत्तनेसु, अत्तेसु
आलपन	अत्त, अत्ता	अत्ता, अत्तानो

पुंल्लिग उकारान्त 'धनवन्तु' (धनवाला) शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	धनवा	धनवन्तो, धनवन्ता
दुतिया	धनवन्तं	धनवन्ते
ततिया	धनवता, धनवन्तेन	धनवन्तेहि, धनवन्तेभि
चतुत्थी	धनवतो, धनवन्तस्स	धनवतं, धनवन्तानं
पञ्चमी	धनवता, धनवन्तस्मा, धनवन्तम्हा	धनवन्तेहि, धनवन्तेभि
छट्ठी	धनवतो, धनवन्तस्स	धनवतं, धनवन्तानं
सत्तमी	धनवति, धनवन्ते, धनवन्तस्मिं, धनवन्तम्हि	धनवन्तेसु
आलपन	धनवं, धनव, धनवा	धनवन्तो, धनवन्ता

उकारान्त पुंल्लिग 'पितु' (पिता) शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	पिता	पितरो
दुतिया	पितरं	पितरे, पितरो
ततिया	पितरा	पितरेहि, पितरेभि, पितूहि, पितूभि

चतुत्थी	पितु, पितुनो, पितुस्स	पितरानं, पितानं, पितूनं
पञ्चमी	पितरा	पितरेहि, पितरेभि, पितूहि, पितूभि
छट्ठी	पितु, पितुनो, पितुस्स	पितरानं, पितानं, पितूनं
सत्तमी	पितरि	पितरेसु, पितूसु
आलपन	पित, पिता	पितरो

उकारान्त स्त्रीलिंग 'मातु' (माता) शब्द

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	माता	मातरो
दुतिया	मातरं	मातरे, मातरो
ततिया	मातुया	मातरेहि, मातरेभि
चतुत्थी	मातुया	मातरानं, मातानं, मातूनं
पञ्चमी	मातुया	मातरेहि मातरेभि
छट्ठी	मातुया	मातरानं, मातानं, मातूनं
सत्तमी	मातरि	मातरेसु, मातुसु
आलपन	मात, माता	मातरो

विशेषण

विशेष्य में जो लिंग, वचन और विभक्ति होती है, वही लिंग, वचन और विभक्ति विशेषण में होती है। उदाहरण के लिए :—

पुंल्लिग	नपुंसकलिङ्ग	स्त्रीलिङ्ग
विसालो मनुस्सो	विसालं फलं	विसाला नगरी

उपर्युक्त उदाहरण में विशेष्य 'मनुस्स', 'फल' और 'नगरी' हैं तथा विशेषण 'विसाल' शब्द है। जो रूप लिङ्ग, वचन एवं विभक्ति में मनुस्स, फल एवं नगरी का है वही रूप उसके विशेपण 'विसाल' शब्द का भी है।

जहाँ तक संख्यावाचक विशेषणों का सम्बन्ध है, इनकी स्थिति अन्य विशेषणों से थोड़ी भिन्न है और वह यह कि संख्यावाचक विशेषण एक ही वचन में (या तो एकवचन या बहुवचन में) होते हैं, जैसा—संख्यावाची 'एक' शब्द एकवचन, 'द्वि', 'ति', 'चतु', बहुवचन होते हैं। 'एक' शब्द से 'चतु' शब्द तक के रूप तीनों लिङ्गों में पाये जाते हैं। 'पञ्च' से 'अट्ठारस' तक के रूप बहुवचन में ही तीनों लिङ्गों में समान होते हैं। 'एक' शब्द के रूप 'किं' शब्द की भाँति होंगे। 'द्वि' शब्द के रूप तीनों लिङ्गों में समान हैं, यथा—

	बहुवचन
पठमा	दुवे, द्वे
दुतिया	दुवे, द्वे
ततिया	द्वीहि, द्वीभि
चतुत्थी	द्विन्नं, दुविन्नं
पञ्चमी	द्वीहि, द्वीभि
छट्ठी	द्विन्नं, दुविन्नं
सत्तमी	द्वीसु

'ति' शब्द के तीनों लिङ्गों में भिन्न-भिन्न होते हैं, यथा :—

	पुंल्लिङ्ग	नपुंसकलिङ्ग	स्त्रीलिङ्ग
पठमा	तयो	तीणि	तिस्सो
दुतिया	तयो	तीणि	तिस्सो
ततिया	तीहि, तीभि	(शेष	तीहि, तीभि
चतुत्थी	तिण्णं, तिण्णन्नं	रूप	तिस्सन्नं
पञ्चमी	तीहि, तीभि	पुंल्लिग के	तीहि, तीभि
छट्ठी	तिण्णं, तिण्णन्नं	समान ही	तिस्सन्नं
सत्तमी	तीसु	होंगे।)	तीसु

'चतु' शब्द के भी रूप तीनों लिङ्गों में भिन्न-भिन्न होते हैं, यथा—

	पुंल्लिग	नपुंसकलिंग	स्त्रीलिंग
पठमा	चत्तारो, चतुरो	चत्तारि	चतस्सो
दुतिया	चत्तारो, चतुरो	चत्तारि	चतस्सो
ततिया	चतूहि, चतूभि	चतूहि, चतूभि	चतूहि, चतूभि
चतुत्थी	चतुन्नं	चतुन्नं	चतस्सन्नं
पञ्चमी	चतूहि, चतूभि	चतूहि, चतूभि	चतूहि, चतूभि
छट्ठी	चतुन्नं	चतुन्नं	चतस्सन्नं
सत्तमी	चतुसु	चतुसु	चतुसु

'पञ्च' से 'अट्ठारस' तक के रूप तीनों लिंङ्गों में बहुवचन में 'पञ्च' शब्द के समान ही होते हैं, यथा—

पठमा	पञ्च
दुतिया	पञ्च
ततिया	पञ्चहिं, पञ्चभि
चतुत्थी	पञ्चन्नं
पञ्चमी	पञ्चहिं, पञ्चभि
छट्ठी	पञ्चन्नं
सत्तमी	पञ्चसु

'एकूनवीसति' से 'अट्ठनवुति' तक के रूप तीनों लिङ्गों के समान होते हैं, जिनके रूप स्त्रीलिङ्ग एकवचन में होते हैं तथा उन सभी शब्दों के रूप 'एकूनवीसति' शब्द की भाँति ही होते हैं, यथा—

	एकवचन
पठमा	एकूनवीसति
दुतिया	एकूनवीसति
ततिया	एकूनवीसतिया
चतुत्थी	एकूनवीसतिया
पञ्चमी	एकूनवीसतिया
छट्ठी	एकूनवीसतिया
सत्तमी	एकूनवीसतियं

'एकूनसतं' के रूप सभी लिङ्गों में समान होते हैं, जिनके रूप नपुंसकलिङ्ग एकवचन में 'फल' शब्द की भाँति ही होते हैं।

'सतं' शब्द से 'सतसहस्सं' शब्द तक सभी शब्दों के रूप नपुंसकलिङ्ग एकवचन में 'फल' शब्द की भाँति होंगे।

'कति' शब्द के रूप तीनों लिङ्गों में समान होते हैं तथा केवल बहुवचन में ही पाये जाते हैं, यथा—

	बहुवचन
पठमा	कति
दुतिया	कति
ततिया	कतीहि, कतीभि
चतुत्थी	कतीनं, कतिन्नं
पञ्चमी	कतीहि, कतीभि
छट्ठी	कतीनं, कतिन्नं
सत्तमी	कतीसु

'पूरणार्थक' जो संख्यावाची शब्द हैं, उनके रूप, जिन पुंल्लिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग शब्दों को हम पीछे कह आये हैं, उन्हीं शब्दों की भाँति होंगे।

सर्वनाम शब्द

'अम्ह' (मैं)

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	अहं	मयं, अस्मा, अम्हे, नो
दुतिया	मं, ममं	अम्हं, अम्हाकं, अम्हे, नो
ततिया	मया, मे	अम्हेहि, अम्हेभि, नो
चतुत्थी	मम, मय्हं, अम्हं, ममं, मे	अस्माकं, अम्हाकं, अम्हं, अम्हे, नो
पञ्चमी	मया	अम्हेहि, अम्हेभि
छट्ठी	मम, मय्हं, अम्हं, ममं, मे	अस्माकं, अम्हाकं, अम्हं, अम्हे, नो
सत्तमी	मयि	अस्मासु, अम्हेसु

'तुम्ह' (तुम)

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	त्वं, तुवं	तुम्हे, वो
दुतिया	तं, तवं, तुवं, त्वं	तुम्हं, तुम्हाकं, तुम्हे, वो
ततिया	त्वया, तया, ते	तुम्हेहि, तुम्हेभि, वो
चतुत्थी	तव, तुय्हं, तुम्हं, ते	तुम्हाकं, तुम्हे, वो
पञ्चमी	त्वया, तया, त्वम्हा	तुम्हेहि, तुम्हेभि
छट्ठी	तव, तुय्हं, तुम्हं, ते	तुम्हाकं, तुम्हे, वो
सत्तमी	त्वयि, तयि	तुम्हेसु

इन उपर्युक्त सर्वनामों के रूप तीनों लिङ्गों में समान होते हैं। सर्वनाम में आलपन नहीं होता है।

'त' (वह)

पुंलिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	सो, स्यो	ते, ने
दुतिया	तं, नं	ते, ने
ततिया	तेन, नेन	तेहि, नेहि, तेभि, नेभि
चतुत्थी	तस्स, नस्स, अस्स	तेसं, नेसं, तेसानं, नेसानं

पञ्चमी	तम्हा, अम्हा, नम्हा, तस्मा	तेहि, नेहि, तेभि, नेभि
छट्ठी	तस्स, नस्स, अस्स	तेसं, नेसं, तेसानं, नेसानं
सत्तमी	तम्हि, अम्हि, नम्हि, तस्मिं, नस्मिं, अस्मिं	तेसु, नेसु

'त' (वह)

नपुंसकलिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	तं, नं	ते, ने, तानि, नानि
दुतिया	तं, नं	ते, ने, तानि, नानि

अवशिष्ट रूप पुंल्लिङ्ग 'त' की भाँति ही बनेंगे।

'त' (वह)

स्त्रीलिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	सा, स्या	ता, ना, तायो, नायो
दुतिया	तं, नं	ता, ना, तायो, नायो
ततिया	ताय, नाय, तस्सा, तिस्सा	ताहि, नाहि, ताभि, नाभि
चतुत्थी	तिस्साय, तस्साय, अस्साय, तिस्सा, तस्सा, ताय	तासं, आसं, तासानं
पञ्चमी	ताय, नाय, तस्सा	ताहि, नाहि, ताभि, नाभि
छट्ठी	तिस्साय, तस्साय, अस्साय, तिस्सा, तस्सा, ताय	तासं, आसं, तासानं
सत्तमी	तिस्सं, तस्सं, अस्सं, तायं, तस्सा, तिस्सा	तासु

'एत' (यह)

पुंल्लिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	एसो	एते
दुतिया	एतं, एनं	एते, एने
ततिया	एतेन	एतेहि, एतेभि
चतुत्थी	एतस्स	एतेसं, एतेसानं
पञ्चमी	एतम्हा, एतस्मा	एतेहि, एतेभि
छट्ठी	एतस्स	एतेसं, एतेसानं
सत्तमी	एतम्हि, एतस्मिं	एतेसु

'एत' (यह)

नपुंसकलिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	एतं	एते, एतानि
दुतिया	एतं	एते, एतानि

अवशिष्ट रूप पुंल्लिङ्ग 'एत' शब्द की भाँति ही बनेंगे।

'एत' (वह)

स्त्रीलिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	एसा	एता, एतायो
दुतिया	एतं	एता, एतायो
ततिया	एताय	एतासं, एतासानं
चतुत्थी	एतिस्साय, एतिस्सा, एताय	एताहि, एताभि
पञ्चमी	एताय	एताहि, एताभि
छट्ठी	एतिस्साय, एतिस्सा, एताय	एतासं, एतासानं
सत्तमी	एतिस्सं, एतस्सं, एतासं	एतासु

'इम' (यह)

पुंल्लिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	अयं	इमे
दुतिया	इमं	इमे
ततिया	अनेन, इमिना	एहि, एभि, इमेहि, इमेभि
चतुत्थी	अस्स, इमस्स	एसं, एसानं, इमेसं, इमेसानं
पञ्चमी	अस्मा, इमस्मा, इमम्हा	एति, एभि, इमेहिं, इमेभि
छट्ठी	अस्स, इमस्स	एसं, एसानं, इमेसं, इमेसानं
सत्तमी	अस्मिं, इमम्हि, इमस्मिं	एसु, इमेसु

'इम' (यह)

नपुंसकलिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	इदं, इमं	इमे, इमानि
दुतिया	इदं, इमं	इमे, इमानि

अवशिष्ट रूप पुंल्लिग 'इम' शब्द की भाँति ही बनेंगे।

'इम' (यह)

स्त्रीलिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	अयं	इमा, इमायो
दुतिया	इमं	इमा, इमायो
ततिया	इमाय	इमाहि, इमाभि
चतुत्थी	अस्साय, अस्सा, इमिस्साय, इमिस्सा, इमाय	इमासं, इमासनं
पञ्चमी	इमाय	इमाहि, इमाभि
छट्ठी	अस्साय, अस्सा, इमिस्साय, इमिस्सा, इमाय	इमासं, इमासनं
सत्तमी	अस्सं, इमिस्सं, इमाय	इमासु

'अमु' (वह)

पुंल्लिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	अमु, अमुको	अमू, अमुयो
दुतिया	अमुं	अमू, अमुयो
ततिया	अमुना	अमूहि, अमूभि
चतुत्थी	अमुस्स	अमूसं, अमूसानं
पञ्चमी	अमुना, अमुम्हा, अमुस्सा	अमूहि, अमूभि
छट्ठी	अमुस्स	अमूसं, अमूसानं
सत्तमी	अमुम्हि, अमुस्मिं	अमूसु

'अमु' (वह)

नपुंसकलिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	अदुं, अमुं	अमू, अमूनि
दुतिया	अदुं, अमुं	अमू, अमूनि

अवशिष्ट रूप पुंल्लिङ्ग 'अमु' की भाँति ही बनेंगे।

'अमु' (वह)

स्त्रीलिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	अमु, अमु	अमू, अमुयो
दुतिया	अमुं	अमू, अमुयो

चतुत्थी	अमुस्सा, अमुया	अमूसं, अमूसान
पञ्चमी	अमुया	अमूहि, अमूभि
छट्ठी	अमुस्सा, अमुया	अमूसं, अमूसानं
सत्तमी	अमुस्सं, अमुयं	अमूसु

'किं' (कौन)

पुंल्लिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	को	के
दुतिया	कं	के
ततिया	केन	केहि, केभि
चतुत्थी	कस्स, किस्स	केसं, केसानं
पञ्चमी	कम्हा, कस्मा, किस्मा	केहि, केभि
छट्ठी	कस्स, किस्स	केसं, केसानं
सत्तमी	कम्हि, किम्हि, कस्मिं, किस्मिं	केसु

'किं' (कौन)

नपुंसकलिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	किं, कं	के, कानि
दुतिया	किं, कं	के, कानि

अवशिष्ट रूप पुंल्लिङ्ग 'किं' शब्द की भाँति ही बनेंगे।

'किं' (कौन)

स्त्रीलिङ्ग

	एकवचन	बहुवचन
पठमा	का	का, कायो
दुतिया	कं	का, कायो
ततिया	काय	काहि, काभि
चतुत्थी	कस्सा, काय	कासं, कासानं
पञ्चमी	काय	काहि, काभि
छट्ठी	कस्सा, काय	कासं, कासानं
सत्तमी	कस्सं, कायं	कासु

'य' (जो) शब्द के रूप तीनों लिङ्गों में **'किं'** (कौन) के समान ही होंगे।

तद्धित-प्रकरण

वैयाकरणों के दो सम्प्रदाय हैं। एक का मत है कि सब शब्द धातु से ही निकले हैं, जिन्हें यौगिक कह सकते हैं और दूसरे सम्प्रदाय के मत में कुछ ऐसे शब्द अवश्य हैं जो धातु से नहीं बने अपितु प्रकृति-प्रत्यय विभाग कठिन है और ये शब्द रूढ़ या अव्युत्पन्न कहलाते हैं। अतः इनके मत में कुछ शब्द यौगिक और कुछ शब्द रूढ़ होते हैं। पहले मत के अनुसार सब नाम कृदन्त होंगे और दूसरे मत के अनुसार कुछ शब्द कृदन्त नहीं भी होंगे। कुछ भी हो, इन नाम शब्दों से कुछ प्रत्यय लगाकर विभिन्न अर्थों का द्योतन किया जाता है। नाम के आगे जोड़नेवाले प्रत्यय 'तद्धित' कहलाते हैं। ये तद्धित-प्रत्यय कई अर्थों में होते हैं, जानकारी की दृष्टि से भाववाचक, देवताद्यर्थक आदि विभाद कर वैयाकरणों ने इन्हें सिखाने का प्रयत्न किया है। पुंलिङ्ग नाम शब्दों से कुछ प्रत्यय जोड़कर उन्हें स्त्रीलिङ्ग नाम शब्द बनाया जाता है। अतः स्त्रीप्रत्यय को तद्धित प्रत्यय की भाँति समझना चाहिए। तद्धित-प्रत्ययान्त शब्दों के रूप उनके लिङ्ग, वचन के अनुसार उपर्युक्त नाम शब्दों की भाँति ही होते हैं।

कुछ ऐसे भी तद्धित प्रत्यय हैं, जिनके जुड़ने पर वे शब्द अव्यय कहलाते हैं और इसलिए स्वभावतः उनके रूपों में कोई परिवर्तन लिङ्ग, वचन या विभक्तिकृत नहीं पाया जाता। जैसे—

तो, त्र, त्थ, धि, हिं, हं, दा, था, धा, ज्झं, एधा, क्खत्तुं, सो तथा ची आदि।

तो	कुतो	(कहाँ से)
त्र	कुत्र	(कहाँ)
त्थ	यत्थ	(जहाँ)
धि	सब्बधि	(सब जगह)
हिं	कुहिं	(कहाँ)
हं	कहं	(कहाँ)
दा	कदा	(कब)
था	यथा	(जैसे)
धा	बहुधा	(प्रायः)
ज्झं	एकज्झं	(एक प्रकार से)
एधा	तेधा	(तीन प्रकार से)
क्खत्तं	तिक्खत्तुं	(तीन बार)
सो	अनेकसो	(अनेक प्रकार से)
ची	गामीकरोति	(जो ग्राम नहीं है, उसे ग्राम बनाता है)

स्त्रीप्रत्यय

प्रत्यय	पुंल्लिंग	स्त्रीलिंग
आ	अजो (बकरा)	अजा (बकरी)
ङी	कुमारो	कुमारी
इनी	यक्खो	यक्खिनी, यक्खी
नी	दण्डी (दण्डवाला)	दण्डिनी (दण्डवाली)
आनी	मातुलो (मामा)	मातुलानी (मामी)
ऊ	वामोरु (सुन्दर जाँघोंवाला)	वामोरू (सुन्दर जाँघोंवाली)
ति	युवा	युवती

मन्तत्थक

मति + मन्तु = मतिमन्तु = मतिवाला
सील + वन्तु = सीलवन्तु = शीलवाला
धन + इक = धनिक = धनवाला
धन + ई = धनी = धनवाला
तप + स्सी = तपस्सी = तपस्वी
दया + आलु = दयालु = दयावाला
मेधा + वी = मेधावी = मेधावाला (बुद्धिमान्)
पुत्त + इम = पुत्तिमो = पुत्रवाला

भाववाचक

बुद्ध + त्त = बुद्धत्तं = बुद्धत्व
मनुस्स + ता = मनुस्सता = मनुष्यता
अणु + इम = अणिमा = अणुत्व

देवताज्जत्थक

'सुगतो देवता अस्सत' इस अर्थ में सुगत + ण = सोगत = बौद्ध

'माघी पुण्णमासी अस्स मासस्स सम्बन्धिनी' इस अर्थ में माघी + ण = माघो = माघ (महीना)

'वीणा वादनं सिप्पमस्स' इस अर्थ में वीणा + णिक → इक = वेणिको = जिसे वीणा बजाने की कला ज्ञात हो।

इसी प्रकार शील, पण्य, अस्त्र, निन्दा, अज्ञात आदि अर्थों में विभिन्न प्रत्यय होते हैं।

अपच्चत्थक

'वसिट्ठस्स अपच्चं' इस अर्थ में वसिट्ठ + ण = वासिट्ठो।

'कच्चस्स गोत्तपच्चं (पुं०)' इस अर्थ में कच्च + णान = कच्चानो, कच्च + णायन = कच्चायनो आदि।

कृदन्त-प्रकरण

धातु से दो प्रकार के प्रत्यय होते हैं, आख्यात प्रत्यय और कृत प्रत्यय। आख्यात प्रत्यय से अतिरिक्त जो प्रत्यय धातु से होते हैं उन सबको कृत प्रत्यय कहते हैं और इनसे बने शब्दों को कृदन्त। ये कृदन्त शब्द नाम शब्दों की भाँति होते हैं।

धातु दो प्रकार के होते हैं--सकर्मक और अकर्मक। सकर्मक धातु से कर्त्ता और कर्म में प्रत्यय होते हैं और अकर्मक से कर्त्ता और भाव में प्रत्यय होते हैं। इन्हें ही कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाववाच्य कहते हैं। आख्यात प्रत्यय हों या कृत प्रत्यय, दोनों, इन तीनों वाच्यों में स्वभावतः होंगे। ये कृदन्त शब्द प्रायः विशेषण की तरह प्रयुक्त होते हैं, अतः अपने विशेष्य के साथ संगति करने के लिए तीनों लिंगों में होते हैं। कुछ कृदन्त शब्द वर्तमान काल, कुछ अतीत काल, कुछ अनागत काल तथा कुछ भाव (क्रिया) वाचक होते हैं। यथा--

	पुंल्लिङ्ग	नपुंसकलिङ्ग	स्त्रीलिङ्ग
वि (उपसर्ग) + √ जि + क्तवन्तु	= विजितवा	विजितवं	विजितवती
वि + √ जि + क्तावी	= विजितावी	विजितावि	विजिताविनी

√हस + तब्ब = हसितब्बं (भाववाचक)

√हन + तब्ब = हन्तब्बो (पुं०), हन्तब्बं (नपुं), हन्तब्बा (स्त्री०)

√हस + अनीय = हसनीयं (भाववाचक)

√कर + अनीय = करणीयो (पुं०) करणीयं (नपुं०), करणीया (स्त्री०)

√चि + ध्यण->य = चेय्यो (पुं०), चेय्यं (नपुं०) चेय्या (स्त्री०)

√पठ + न्त = पठन्तो (पुं०), पठन्तं (नपुं०), पठन्ती (स्त्री०)

√पठ + मान = पठमानो (पुं०), पठमानं (नपुं०), पठमाना (स्त्री०)

√गम + क्त = गतो (पुं०), गतं (नपुं०), गता (स्त्री०)

√दा + ल्तु->तु = दातु (पुं०, नपुं०, स्त्री०)

√दा + णक->अक = दायको (पुं०) दायकं (नपुं०), दायिका (स्त्री०)

√चि + अ = चय (भाववाचक)

√चज + घण = चागो (भाववाचक)

√गम + क्ति = गति (भाववाचक)

√दा + अन = दानं (भाववाचक)

√हा + नि = हानि (भाववाचक)

समास-प्रकरण

मोग्गलान व्याकरण में 'स्यादि स्यादिनेकत्थं' (३, १) तथा कच्चायन-व्याकरण में 'नामानं समासो युत्तत्थो' (२, ७, १) सूत्रों द्वारा समास की परिभाषा बतायी गयी है। तात्पर्य यह है कि दो या दो से अधिक विभिन्नार्थक स्याद्यन्त (विभक्त्यन्त) पदों का एक अर्थ में प्रयोग समास कहलाता है। ये समास अव्ययीभाव, तत्पुरुष, बहुव्रीहि, तथा द्वन्द्व चार प्रकार के होते हैं। तत्पुरुष का भेद कर्मधारय और उसका भेद द्विगु होता है। बहुव्रीहि समास समानाधिकरण और व्यधिकरण दो प्रकार का होता है। द्वन्द्व के भेद समाहारद्वन्द्व और इतरेतरद्वन्द्व होते हैं।

नगरस्स समीपं = उपनगरं (अव्ययीभाव)

रञ्ञो पुरिसो = राजपुरिसो (तत्पुरुष)

दुतिया से सत्तमी तक सब विभक्तियों के साथ तत्पुरुष समास होता है।

नीलं च तं उप्पलं च = नीलुप्पलं (कर्मधारय)

पञ्चन्नं गुन्नं समाहारो = पञ्चगवं (द्विगु)

वजिरं पाणिम्हि यस्स सो = वजिरपाणि (व्यधिकरण बहुव्रीहि)

लम्बं उदरं यस्स सो = लम्बोदरो (समानाधिकरण बहुव्रीहि)

माता च पिता च = मातापितरो (इतरेतर द्वन्द्व)

गङ्गा च यमुना च = गङ्गयमुनं (समाहार द्वन्द्व)

आख्यात-प्रकरण

पालि-भाषा में मोग्गलानधातु-पाठ के अनुसार प्रायः ५०० से कुछ अधिक और कच्चायन व्याकरण के अनुसार स्थविर सीलवंस द्वारा लिखित धातुमञ्जूसा के अनुसार प्रायः आठ सौ धातु हैं। इन समग्र धातुओं के रूपों की दृष्टि से इन्हें ९ गणों में विभक्त किया गया है। यथा--

१. भ्वादि—भवति, पचति, पठति, आदि।

२. रुधादि—रुन्धति, मुञ्चति आदि।

३. दिवादि—दिब्बति, भिज्जति, झायति आदि।

४. तुदादि—तुदति, लिखति आदि।

५. ज्यादि—जिनाति, जानाति (ञा धातु) आदि।

६. क्यादि—किणाति, सुणाति आदि।

७. स्वादि—सुणोति, वुणोति आदि।

८. तनादि—तनोति, करोति आदि।

९. चुरादि—चोरेति, अच्चयति आदि।

उदाहरण के लिए भ्वादिगण के भू धातु के समस्त रूप नीचे दिये जा रहे हैं। इन्हीं रूपों के समान प्रायः भ्वादिगण के शेष धातुओं के रूप तथा अन्य गणों

के धातुओं के रूपों को भी, उन-उन गणों के कारण होनेवाले परिवर्तनों सहित समझना चाहिए।

'भू' धातु

वर्त्तमान काल

'परस्सपद'

	एकवचन	बहुवचन
पठमपुरिस	भवति	भवन्ति
मज्झिम पुरिस	भवसि	भवथ
उत्तम पुरिस	भवामि	भवाम

अनुज्ञा

	एकवचन	बहुवचन
पठमपुरिस	भवतु	भवन्तु
म० पु०	भव, भवाहि	भवथ
उ० पु०	भवामि	भवाम

विधिलिङ्

	ए० व०	ब० व०
प० पु०	भवेय्य, भवे	भवेय्युं
म० पु०	भवेय्यासि	भवेय्याथ
उ० पु०	भवेय्यामि	भवेय्याम

अतीत काल (परिसमाप्त्यर्थक)

	ए० व०	ब० व०
प० पु०	अभवि, भवि अभवी, भवी	अभवुं, भवुं, अभविंसु, भविंसु, अभवंसु, भवंसु
म० पु०	अभवो, भवो, अभवि, भवि	अभवित्थ, भवित्थ, अभवुत्थ, भवुत्थ
उ० पु०	अभविं, भविं	अभविम्ह, भविम्ह, अभविम्हा, भविम्हा, अभवुम्हा, भवुम्हा

अनज्ञतन (अनद्यतन) अतीतकाल

	ए० व०	ब० व०
प० पु०	भवा, अभवा, अभव	अभवु, अभवू
म० पु०	अभवो	अभवित्थ, अभवुत्थ

उ० पु०	अभव	अभवुम्हा, अभविम्हा, अभविम्ह

परोक्ष अतीत

	ए० व०	ब० व०
प० पु०	बभूव	बभूवु
म० पु०	बभूवे	बभूवित्थ
उ० पु०	बभूव	बभूविम्ह

कालातिपत्ति (हेतुहेतुमद्‌भूत)

	ए० व०	ब० व०
प० पु०	अभविस्सा	अभविस्संसु
म० पु०	अभविस्से	अभविस्सथ
उ० पु०	अभविस्सं	अभविस्सम्हा

भविष्यत्‌काल

	ए० व०	ब० व०
प० पु०	भविस्सति	भविस्सन्ति
म० पु०	भविस्ससि	भविस्सथ
उ० पु०	भविस्सामि	भविस्साम

———

शब्दों की व्युत्पत्ति तथा अर्थ

(अ)

अइरेण <ऐलेन = इलावंशी

अउच्चेय < अतश्चैव

अक्षयनीवि <अक्षयनीयी = न्यासनिधि

अकरम्हसे < √ कृ + लुङ्

अकतञ्ञु <अकृतज्ञ

अकरी <अ + √कृ + लुङ् = किया

अकिञ्चायतनं <आकिञ्चन्य + आयतन = अकिञ्चनता की बोध-दशा

अग्घापनियकम्मे <अर्घ (नामधातु) + इक (तद्धित) + कर्म + सप्तमी एकवचन = मूल्याङ्कन के काम में

अग्घाइआ <आघ्रापिताः = सुंघाया गया

अच्चयेन < अत्ययेन = मृत्यु से

अच्छरासद्दे न = चुटकी से

अज्जकल्लसंघडउसहे <अद्यकल्य + सङ्कट + उत्साहे=आजकल मिलने के उत्साह में

अज्झावसिस्सति <अध्या + √वस् + लट् = रहेगा

अज्झोत्थरित्वा <अधि + अव + √स्तृ + ल्यप् (पालि में त्वा) = बिखरा कर

अट्ठि < अस्थि

अट्ठिमिञ्जा <अस्थि + मज्जा

अट्ठूसभमत्तं < अष्ट + वृषभ + मात्र = आठ वृषभ के प्रमाण का

अणज्जन्तो < अ + √ज्ञा + (कर्मवाच्य) + शतृ + प्रथमा एकवचन = न जाना जाता हुआ

अणत्थसलिलावत्ते <अनर्थ + सलिल + आवर्त्त + सप्तमी एकवचन = अनर्थ के भँवर में

अणुहूअ सुरआइं > अनुभूत + सुरतानि

अतिणिग्घिणं <अतिनिर्घृणं = अतिनिर्दय

अतिधोनचारिनं <अति + धौत (धावन) + चारिणं = अशुचि कर्म करनेवाले को

अतियायिकय <अत्यायिकाय = संकट की स्थितियों के लिए

अतीतसत्थुकं < अतीतशास्तृकं = दिवंगत उपदेष्टा को

अत्तकिलमथानुयोगो < आत्मक्लमथानुयोगः = अपने को थकानेवाला

अत्तनो < आत्मनः (अत्त तथा आतुम शब्द से परे 'स' विभक्ति का विकल्प से नो हो जाता है < अत्त + स (नो)

अत्थयन्तस्स < अर्थयतः

अत्थितं < अस्तितां = अस्ति का भाव, अस्तित्व

अद्दावलेवलित्तेन < आर्द्रावलेपलिप्तेन = मलहम

अद्धंचिय < अर्ध + चैव

अधिगिच्च < अधिकृत्य

अनत्थसंहिता < अनर्थसंहृतः

अनरियो < अनार्थः

अनाथनां < अनाथानां

अनागतभयानि = आनेवाले भय

अनुपुब्बेन < अनुपूर्वेण = धीरे-धीरे

अनेजो < अनेजः = उद्वेगरहित

अनोतत्तदहं < अनवतप्त + ह्रदं = अनवतप्त नामक सरोवर

अन्देउरदिग्घिआसु < अन्तःपुरदीर्घिकासु = अन्तःपुर की दीर्घिकाओं में

अन्धकमसका = अन्धकमशकाः

अन्नहिं < अन्यस्मिन्

अपदिन्नं < अप्रतिज्ञं

अप्पओ < आत्मकः

अप्पटिपुग्गलो < अप्रतिपुद्गलः = अप्रतिम व्यक्ति

अप्रुघजण-जेविद < अपृथग्जनासेवितं = साधारणजन द्वारा असेवित

अभिक्खिनं < अभीक्ष्णं = बार-बार

अभिरमापेन्तियो < अभि + √रम् + णिच् + शतृ + (द्वितीया बहुवचन) = मनोरंजन करती हुई

अमिअह < अमृतस्य ('ह' सम्बन्ध कारक एकवचन का चिह्न है)

अमुतपदानि < अमृतपदानि

अमोयघणं < आमोदघनं

अम्बणु < अम्लनं (अम्लत्वं) = खटाई, लगाव, ललक

अम्बपक्कोदकं < आम्र + पक्व + उदकं = पके आम और पानी

अम्मणमत्तेन < अर्मण ? (एक प्रकार का माप) + मात्रेण

अयन्निवि < आकर्ण्य = सुनकर

अयोगुला < अयः + गुडाः

अय्यिका <आर्यिका = पितामही

अलियवसानि <आर्यवंशाः (संगीत सुत्त)

अह्लीया <आनीताः

अविनिपातधम्मो <अविनिपातधर्मः = अनश्वर स्वभाववाला

अवले <अपरः

अवशलोवशप्पणीआ <अवसरोपसर्पणीयाः

अवहोवासेसु <अपथोपपार्श्वेषु

अविचिम्हि <अवीचि + (सप्तमी एकवचन) = अवीचि नामक नरक में

अब्बहे <आवृहेत् = निकाल ले

अब्भत्थणि <अभ्यर्थने

असम्पवेधी <असम्प्रव्यथिन् = अचल

असामण्णरूवसोहा <असामान्य + रूप + शोभा

अस्सपोतप्पमाणो <अश्वपोतप्रमाणः (<अस्त + पोत + प्पमाणो, अस्स (घोड़ा) <√ अस = खेपने)

अस्सवा <अस्रवा = मदरहित

अहायथा <अहीयत

अहियासए <अध्यासीत (लुङ् के अर्थ में लिङ् का प्रयोग) = सहन किया

अहुवम्हसे <√ भू + लुङ्

अहेळ्यं <अहेडयत् = छीना

(आ)

आअअग्गिवो <आयत + ग्रीवः = गर्दन उठाकर

आइ (<आइय) पूर्वकालिक रूप

आइदाणि <आचितानि = चुन लिये गये

आकासानञ्चायतनं <आकाश + आनन्त्य + आयतन = आकाशबोध की तन्मयतावाली समाधि-दशा

आगतागता = आ-आकर

आचिक्खि <आ + √ ख्या + लुङ् = आख्यत्

आढत्ता <आरब्धा = आ √ रभ् + क्त + (स्त्रीलिङ्ग)

आदिण्णवा <आदीर्णवान् = चीर डाला

आदित्तगेहसदिसा <आ + दीप्त + गेह + सदृशाः = आग लगे घर की तरह

आयकसुसानं <आमकश्मशानम् (श्वशान) = ऐसा श्मशान, जहाँ मुर्दे कच्चे फेंके जाते हों

आरभित्वा <आ + √लभ् + क्त्वा

आरभिसरे <आ + √रभ् + लट् (रे)

आवतके <यावत्तक = जितना

आसणगाइं <आसनकानि

आहिजाइए <आभिजात्यै

आहितोगिनि <आहितः + अग्निः

(इ)

इ = इति

इक्किण <एकेन

इंथुअभि = इस प्रकार

(ई)

ईसीसि <ईषत् + ईषत् = हल्की, हल्की

(उ)

उअरोह-रामअ-मच्छर-लोहेहिम्पि <उपरोध (अनुचित कृपा) + राग + मत्सर + लोभैः + अपि

उइयम्मि <उदिते

उक्कारभूमियं <उत्कारभूम्यां = घूर पर, अपवित्र स्थान पर

उज्जता <उद्युक्ता

उठाअण <उत्थापन = आँगन, चबूतरा

उड्डउ <उड्डितः (√उड्ड + उ)

उड्डावन्तिए <उड्डापयन्त्याः

उण्हाकारं <उष्णाकारं = प्रज्वलित

उण्हाय <उष्णायां

उतुंगाहापेंसु <ऋतुं + अजीग्रहन् (√गह् + आप् + लुङ्) प्र० पु०, ब० व० = स्वस्थता प्राप्त करायी

उत्तारेऊण <उत + तारि + त्वान = उतारकर

उदगब्भासे <उदकाभ्याशे = पानी के पास

उदानं <ओदानं <अवदानम् = उपदेश

उदाह <उताहो

उद्धुमायि <उद्√ध्मा + (भाववाच्य) + लुङ् = उदध्मायि = सूज गया

उपता <उपान्तात् = समीप से

उपतिसपसिने <उपतिष्यप्रश्नः

उपदए <उपान्तात्

उपधी <उपधिः = परिग्रह

उपशंगिदव्य <उपशंकितव्यः

उपसम्पदा = ज्ञान

उपोसथंगानि <उपवसथ + अङ्गानि = उपवास के नियम

उमुग्गा <उन्मग्नाः = न डूबे हुए

उम्मारे (अव्युत्पन्न) = देहली पर

उम्मुज्जनिमुज्जं <उन्मज्जननिमज्जने = उतराना-डूबना

उययस्स <उदकस्य

उव्वरिअ <उर्वरित = छोड़ दिया

उसभदत्तस्स <वृषभदत्तस्स

उसीरत्थो <उशीरार्थः

उसुकारा <इषुकारः = बाण बनानेवाले

उस्सन्नं <उत्सन्नं

(ए)

एआई <एकाकी = अकेला

एकप्पहारेन <एक + प्रहारेण = एकदम

एकफालिफुल्लं = अच्छी तरह फूला हुआ

एकंसेन <एक + अंशेन = एकदम (एकबारगी)

एत्तडउ < एतावत्कः (डक = द्विगुणित स्वार्थिक प्रत्यय)

एलिक्खए <ईदृक्षकः (ईदृशः)

(ओ)

ओअन्तकरअलोग्गलिअवलअमज्झट्ठिअं < उपान्त + करतल + उद्गलित + वलय + मध्यस्थितं

ओट्ठमियाए <अवष्टम्भितायां = निस्तब्ध मुद्रा में

ओडिदव्य <अव + √टि + तव्यत् = छोड़ने योग्य

ओल्लोल्लाइ < उष्णोष्णया = अत्यन्त उष्ण

ओवइअमअरणिद्दअलुअगत्तावरविसण्ठुला <अवपतितमकरनिर्दयलूनगात्रावरविसंष्ठुलाः

ओवादं <अववादं = उपदेश

ओशलध < अपसरथ (अपसरत)

ओसट्ठकाए <व्यवसृष्टकायः = शरीर को दूसरे की कृपा पर छोड़े हुए

असज्जमणगारे <व्यवसृज्य + (म् + व्यञ्जनभक्ति) अनागारः = अपने को उत्सर्ग कर अनिकेत हो

ओसीदापेस्सन्ती <अव + √सद् (> √सीद्) + णिच् + लट्

ओलुक <औत्सुक्यं

ओहजेदि <अवभासयति

ओहालिअं <अपराधितं

(क)

कइअवरहिअं <कैतव + रहितम् = छलरहित

कइणिवहा <कपिनिपहा = कपिसमूह

कउत्तमासगा <कवि + उत्तम + आसङ्गा

कतञ्ञुता <कृतज्ञता

कत्तो <कत्तः (कुतः) कहाँ से

कदुअ <कृत्वा (इसमें ल्यप् का 'य', 'अ' में परिवर्तित हो गया है)

कप्पडिऔ <कार्पटिकः = भिखमंगा

कमण = कौन

कम्मजवाता <कर्मजवाता = प्रसववेदना

कंपिअ, चलिअ <√ कंप + इअ, √ च ल + इअ। (कर्म० भूतकाल कृदन्त)

कयं <कृतं

कर <करोति, वर्तमान प्र० पु० एकवचन में शुद्ध धातु का प्रयोग

करण्डिआए <करण्डिकासु = पेटिओं में

करि धरि√ कर + इ√धर + इ

करिस्सामित्थिकिच्चश्च < करिष्यामि + स्त्री + कृत्यं + च

कलिङ्गरं <(अव्युतपन्न) = लकड़ी का टुकड़ा

कलिज्जिहिसि < कलम् + (भाववाच्य) इज्ज + लृट् = पहचान ली जाओगी

काकच्छन्तियो < काकथ्यमानाः (√ कथ् + यङ् लुगन्त+शतृ) = बड़बड़ाती हुई

काजि = कैसे

काममुखल्लिकानुयोगो <(काम + (स्वार्थिक) लिक + अनुयोग = कामसुख की इच्छा करनेवाला

कारुण <कर्त्वान (कृत्वा) करके

किअउ <कृत : (√ कि (> कर) + इ अ + उ। इअ कर्म० भूतकालिक कृदन्त है तथा 'उ' अपभ्रंश में कर्ता और कर्म एकवचन की विभक्ति है

किर <किल

किलिम = विधवा-विवाह

किलोमकं < क्लोमकम् = फुफ्फुस (फेफड़े) का आवरण

कीलम्ह < क्रीडामः

कीस अलंकिदा <कस्मात् अलंकृता

कुड्डो < कुड्यः = दीवाल

कुलसन्तकं < कुल + सत्(<सन्त) + क(स्वार्थिक) = कुलका
कोञ्चनादं <क्रौञ्चनादं = महानाद
कोठगलानि <कोष्ठागाराणि
कोड्डेण < कौतेन = कौतूहलवश
कोहाइमाणं <क्रोधातिमानम्
कोहाणलमह(>क्रोधानले)< कोह + अणल + मह (परसर्ग, इसका अधिकरण में प्रयोग हुआ है)

(ख)

खत्तियसुखुमालो <क्षत्रिय + सुकुमार
खन्तिमेत्तानुदयसम्पन्नो <क्षान्ति + मैत्रानुदय + सम्पन्न = क्षमा, मैत्री और दयायुक्त
खल्लिहडउं <खल्वाटकम्
खायिंसु < अडागम विरहित क्षि + (कर्मवाच्य) + लुङ् प्रथम पु० बहुवचन = नष्ट हो रहे थे

(ग)

गई < गतिः
गज्ज < गर्जति (√गज्ज + ०)
गउलाविइ < गौडाधिपतिः
गयण-यलु <गगन-तले
गरदितु <गर्हितः
गलपरियोसानं <गल + पर्यवसानम् = गले तक
गब्भत्ताए <गर्भत्वा + तृ० एकवचन = गर्भत्व में
गहिअत्थो <गृहीतार्थः = समझदार
गारवेनापि < गौरवेण + अपि
गालवे < गौरवः
गिमि < ग्रीवायाम्
गिरिघाउक्खित्तसलिलरेइअभरिअं < गिरिघातोत्क्षिप्तसलिलरेचितभरितम्
गुत्तिअं < गुप्तिकाम् = कारागार
गुर्पये < गोर्पइओस (Gorpaios) महीने में
गोउतदुआले < गोपुरद्वारे
गोमिको = गौ वाला
गोवइ <गोपयति

(घ)

घल्लइ = फेंक देता है

घित्ता < घृत

घेत्तूण < गृहीत्वा

(च)

चक्कपलिवट्टिं < चक्रपरिवृत्तिम्

चक्खुकरणी < चक्षुष्करणी = दृष्टि देनेवाली

चक्खुम < चक्षुष्मन् = दृष्टिसम्पन्न

चडाविय < देशी धातु √ चट् + णिच् + त

चतुदसेन < चतुर्दशेन

चम्पिज्जइ < आक्रम्यते = दबायी जाती है

चयं चइत्ता < च्यवं च्यवित्वा

चलंतउ < चलन्, वर्तमानकालिक कृदन्त रूप

चवल < चपल = शीघ्र

चाई = त्यागी

चागो (< त्यागः) √ चज + घण प्रत्यय (भाव में घ अनुबन्धवाला प्रत्यय होने से धातु के अन्तिम 'ज' का 'ग' हो गया—कगाचजानं धातुबन्धे)

चिलठितिके < चिरस्थितिकः

चीवरपिण्डपातसेनासनगिलानपच्चयभेसज्जपरिक्खारं < चीवर + पिण्डपात + शयन + आसन + ग्लान + प्रत्यय + भैषज्य + परिष्कारं = वस्त्र, भोजन, शयन, रोग होने पर दवा आदि का विधान

चुरोम = एक विशेष प्रकार का द्रव्य

चेलुं < चैलं = चीर

(छ)

छइल्ल < *छविल्ल = चतुर

छड्डेत्वा < छर्दयित्वा = छोड़कर

छविच्छेए < शरीरच्छेदः

छाता इ < क्षाताः इति = भूखे

छिन्नतटमहासोब्भो < छिन्नतटमहाश्वभ्रः = टूटे हुए किनारेवाले बड़े गड्ढे

छिवसु < √ क्षिप् = डालो

छीरेकपाइणा < क्षीरैकपायिना = दूध पीते हुए

छुहामि < *क्षुभामि (क्षिपामि) = फेंक दूँ

छूढो < √ क्षुभ् + क्त = व्यक्त

(ज)

जगइ < संख्याय

जगरवोशमु < संस्कारोपशमम्

जच्चित <सचित्त

जणद्दियणयणी <जलार्द्रितनयनी

जणावत्तो <ज्ञापयामि

जदिजत्शर < जातिसंसारे

जवजि <संवसेत्

जमकद <समकृताः = एकत्र

जमदइ <समादाय

जमधि <समाधिः

जम्मी <जाल्मी

जयमिणामो < जयं + (जगत्) + इणमो (इदं)

जर्वस्पोर < सर्वस्फुं = पूरी तेजी से

जलव्हु <सलाभं

जसु- <यस्य > जस्स > जासु > जसु

जह, जहा <सं० यथा

जहिच्छं <यथेच्छम्

जालन्धरि < जालन्धरी < कदली

जिअ <स्यात्

जिदवंसरोअणो <जितवंशरोचनः

जुण्णवडएण <*जूर्ण (जीर्ण) नटकेन

जूदिअरो <द्यूतकरः

जूरसु < √जूर् (<ज्वल्) + स्व = रंजन हो

जेण <स्वेन

जेव <सेवेत

जोइओ <द्योतितः

जोण्ह <ज्योत्स्नां

जंपञो <जल्पामि

(झ)

झम्पइ = झँप जाय

झायन्तं <ध्यायन्तं

झंपिअ < √झंप + इ अ √झंप देशी शब्द है

(ञ)

ञदर्थ <ज्ञातार्थः

ञाणकराणी <ज्ञानकरणी = ज्ञानप्रद

ञाणसम्पन्नो <ज्ञानसम्पन्न

(ट)

टरपरिअ <√ टरपर (अनुरणनात्मक धातु) + इअ (कर्म० भूतकालिक कृदन्त)

(ठ)

ठवीआ < स्थापितः (= ठविअ का छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत रूप, णिजंत का कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त

(ढ)

ढोल्ला = ढोल

(ण)

णउग्गदिन्दुमहुरच्छाअस्स < नवोद्गतेन्दुमधुरच्छायस्य

णवमोत्तिअत्तणं < नवमौक्तित्वम्

णवरंगचंगिमा < नवरंगसुन्दरी

णस्सालज्जुकडुआ < नस्यारज्जुकटुकाः = नाथ के बड़े तीखे

णस्स < नश्य = भग जाओ

णह < नमः

णहसाअरन्तरालुद्दे सो < नभः सागरान्तरलोद्दे शः

णायवजिअं < न्यायवर्जितम्

णिअदुमोसरिअकुसुमरअधूसरिआ < निजकद्रुम + अपसृत + कुसुमरजः + धूसरिता

णिद्दयरु < निर्दय + टः + (डो < रोरु <)

णिव्वाडन्ताण < निवर्त्तयमानाणाम्

(त)

तग्गन्ति = टँगे हुए हैं

तजि (< त्यक्त्वा) √ तज + इ (पूर्वकालिक क्रिया प्रत्यय)

तत्ततार्ति < तत्त्वतन्त्रीम्

तप्पडिरूवगववहार < तत्प्रतिरूपक व्यवहारः

तलिणं < सूक्ष्मे (< तलिनम्)

तासु < तस्य < तस्स < तस्सु < तासु

तिच्छेत्तु < अतिच्छेत्तु = तुड़ाने के लिए

तित्थियानं < तीर्थिकानाम् = असद्धर्मियों के

तिनि < त्रीणि

तिन्ति < तृप्तिम्

तियलोए < त्रिकलोके

तिरिआवलिअमुहअन्दं < तिर्यक् + वलित + मुखचन्द्रम् = तिरछे मुँह किये

तुअ <तव (इसका वैकल्पिक रूप तउ, तुज्झु, तुज्झह, तुध्र, तुह। 'तुअ' 'तुह' का प्राण ध्वनिरहित रूप

तुण्णाओ <तूर्णगः = डाकिया

तुतो <ततः

तेजनं = वाणः

तोम्मन = एक अधिकारी

तोम्मिहि <तोम्मिभिः = तोम्मि के साथ

(थ)

थक्कउ <तिष्ठतु टीकाकारों ने इसे वर्तमानकालिक रूप 'तिष्ठति' माना है, जो गलत है

थलमुब्भता <स्थलं + उद्भृताः

थेओ <स्तोकः = कम

(द)

दइ, लइ, समादि <√द + इ, √ल + इ, स + √मद + इ = पूर्वकालिक क्रिया प्रत्यय

दक्ख <दृश्यते (कर्मवाच्य वर्तमानकालिक प्रथम पु, एक व० में धातुरूप कुछ टीकाकारों ने इसे <पश्य माना है)

दण्डत्रिट्ठवणम्—दण्डनिष्ठापनम्

दम्मी <ददिम

दरमउ <दलमलिता √दर + √मर + उ

दवाविओ <दापि + णिच् + क्त + दिलवाया

दिअवर = दिण्णाज्जु <द्विजवरदत्तानुज्ञाम्

दिअहडा <दिवसटाः = (दिवसाः)

दिअहद्धे <दिवसार्धे

दिज्ज <दीयते कर्मवाच्य रूप

दिण्णजाणुवडणेंण <दत्तजानुवदनेन = घुटने के बल चलते हुए, गिरे हुए

दीस— <दिशा >दिसा <अपभ्रंश दिस। छन्दोनिर्वाहार्थ 'इ' का दीर्घीकरण

दीहुण्हउ <दीर्घोष्णकम्

दुस्सिक्खिअरअणपरिक्खएहिं <दुःशिक्षितरत्नपरीक्षकैः = अनाड़ी रत्न-परीक्षकों द्वारा

देवसिकं <दैवसिकं = नित्य

देवसुप्पलवण्णस्स <देवस्य + उप्पलवर्णस्य

देसियसद्दपलोट्टं <देशिकशब्दपर्यस्तम्

दोन्नि <द्वौ = दो

दोहियइम्—द्रोहितानि

द्रम्गघरे = शासनाधिकारी

(ध)

धणूहा–<धनुः (अर्ध-तत्सम रूप 'धनुह' का छन्दोनिर्वाहार्थ विकृत रूप या धणु + ह (स्वार्थे)

धमनिसंथितं <धमनी + संस्तृतं = जिसकी नसें साफ-साफ दिखती हों

धम्मगण्डिकट्ठाने <धर्मगण्डिकास्थाने = वधस्थान

धरीआ <धृताः (= धरिआ बहुवचन का रूप, 'इ' का छन्दोनिर्वाहार्थ दीर्घ रूप)

धाइ <(धाविअ <धावित्वा) पूर्वकालिक रूप

धुत्तिमं <धूर्तिमानं = धूर्तता

धुल्लिअ <धूल्वा √धुल्ल + ईअ

ध्रवो <ध्रवः = निश्चित

(न)

नडकर <नलाकरम्

नत्थितं <नास्तिताम् × अनस्तित्व

नदिमञ्ञ <नातिमन्येत (न + अति √मन् + लिङ्)

नधिकछदि <न + अधि + √गम् + लट् प्रथमपुरुष एकवचन = नाधिगच्छति

नवइ <नवके = नये (कसोरे) में

नहारु <स्नायु

नाओ <नाग = हाथी

नासक्खि <न + √शक् + लुङ्

निच्चई <निश्चयम्

निच्छितो <निश्चितः

निपज्जापेसुं <√निपज्ज (निपद्यते) + आपय् (प्रेरणार्थक) + सु (लुङ् प्रथम पुरुष, बहुवचन)

निज्झाइओ <निर्ध्यातः

नियादेमाति <निर्यातयामः (नि + √या + णिच् + लट् + उत्तमपुरुष बहुवचन) + इति

निय्यामकजेट्ठस्स <नियामक + जेष्ठस्य = पोतनायक

निरुम्भित्वा <नि √रुम्भ + त्वा (निरुध्य) = रोककर

निवापं <चारा

निवापतिनं <निवाप + तृणम्

निसिरियचलणा <निशीर्य + चरणा = फिसले हुए पैरोंवाली

निहालस <निभालय

नीहरित्वा <निर्हृत्य

नेत्तिका <नेतृकाः = नालियाँ

नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं <नैव + संज्ञा + असंज्ञा + आयतनम् = ऐसी अवस्था जिसमें न तो संज्ञा की पूर्णतः स्थिति रहती है और न संज्ञा का पूर्णतः अभाव ही रहता है

(प)

पअभरु <पदभरेण ('उ' कर्मवाच्य कर्ता एकवचन का भी चिह्न है)

पइसीसु <प्रविशानि = प्रविष्ट हो जाऊँ

पकटबीभच्छसंबाधट्ठाना <प्रकटबीभत्सम्बाधस्थानाः = जिनके विद्रूप गुप्तांग दिखायी दे रहे थे

पकतिसमुद्दपिट्ठे <प्रकृतिसमुद्रपृष्ठे

पक्ककोइलाथं <पक्ककपित्थानाम्

पक्खदुआलए <पक्षद्वार के

पग्घरितखेला <प्रक्षरितखेडाः = जिनकी थूक इधर-उधर गिर रही थी

पच्छावामकधातुको <पश्चाद्वामकधातुको = पीछे से बौना

पज्जुस्सुअमणा <पर्युत्सुकमनाः = उत्कण्ठित

पञ्ञत्तिवोहारो <प्रज्ञप्ति + व्यवहारः = जानकारी और व्यवहार

पञ्चानन्तरियकम्मं <पञ्च + आनन्तरिय + कर्म = प्रायश्चित्त के योग्य पाँच कर्म

पञ्ञायेत्वा <प्र√ज्ञा (<पञ्ञ) + आपय् + क्त्वा = प्रस्तुत करके

पञ्हपटिभानानि <प्रश्न + प्रतिभानानि = प्रश्न के समाधान

पटिकुज्जेत्वा <प्रतिकुज + अय् (नामधातु) + क्त्वा = ढँककर

पटिच्चसमुप्पादं <प्रतीत्यसमुत्पादम्

पटिजग्गिंसु <प्रति + √जागृ + लुङ् = पालन किया

पटिसंधिं <प्रति + सन्धिम् = गर्भ

पट्टंसुअजुअलं <पट्टांशुकयुगलम्

पडिसुविणएण <प्रतिस्वप्नकेन

पडिवादेसुत्ति <प्रतिपादयस्व = सौंप दो

पडिवेसिअगहवइदारअकेरिआए (प्रतिवेशिक + गृहपति + दारक + कार्यकया

पणयासि <प्रणतः + आसीत्

पडिविज्ु <प्रतिविद्यन्

पण्डुकम्बलशिलासनं <पाण्डुकम्बलशिलासनम्

पण्णसञ्ञं <पर्णसंज्ञा = पत्तियों का निशान

पति <√पत् + लुङ्

पतिसंखारयति <प्रतिसंस्कारयति

पत्थयगो < पाथेय

पत्थरित्वा <प्र + स्तृ + त्वा (> ल्यप्) फैलाकर

पत्थाव <प्रस्तावे

पत्थिया <प्रस्थिता

पदमुलम्मि < पादमूले

पधमे <प्रथमे

पनसेहि √ पनसैः = कटहलों से = (√ पन + अस् (प्रत्यय) पन्यते, श्लाघ्यते इति पनसो

पन्तं < (अव्युत्पन्न) = वासी

पप्फासं < फुफ्फुसं = फेफड़ा

पभंकरो <प्रभाकरः

पम्हुसइ <प्रमृशति (प्र √ मृश् + लट् प्रथम पुरुष एकवचन)

पयईओ <पदव्यः

पययच्छायाएँ <प्राकृतच्छायायाम्

पययस्सवि (पययस्स + वि) <प्राकृतस्य + अपि

पया <प्रजाः

परज < लूट लिया

परिच्चगेन <परि + त्यागेन

परिच्चजित्वा <परि + √त्यज् (चज) + क्त्वा (ल्यप् के लिए)

परिछिनवितांति < परिक्षीणयन्ति

परित्तसुत्ततेजेन <परित्त + सूत्र + तेजसा

परिसाय <परिषा (<परिषद्) षष्ठी

परिस्सहाइं < परिस्नवाणि = केशों को

पलवती <प्लवते

पलिश्शंतश्श < परिश्रान्तस्य

पलेति < परैति, पलायते = चला जाता है

पलोभेउं <प्रलोभयितुम् (यहाँ तुमुन् का प्रयोग क्त्वा के अर्थ में हुआ है ।)

पल्हत्थन्ति < पर्यस्यन्ति (नामधातु)

पसथ <प्रशस्त

पहिणि <प्र + हि (>हिण) + लुङ् प्रथम पुरुष एकवचन (अडागमविरहित) = भेजा

पहितत्ते < प्रहितात्मनि

पाआलुम्हगिरिधाउकद्दमिअमुहा < पातालोष्मगिरिधातुकर्दमितमुखाः

पाइ (<पाइअ) <प्राप्य पूर्वकालिक कृदन्त

पाइयकव्वं <प्राकृतकाव्यम्

पाउसआले <प्रावृट्काले

पाकटो <प्रकट:

पाणका <प्राणका: = छोटे प्राणी

पाणातिपातं <प्राणातिपातं = हिंसा

पाणिउ <पानीयम्

पाणिप्पहारसद्देन <पाणिप्रहारशब्देन = ताली बजाने से

पातोव्व <प्रातः एव

पायसोयं <पादशौचम् = पादप्रक्षालन

पारक्कडा <पारक्यटा: = शत्रु के

पासादिको <प्रासादिक: = सौम्य

पाहुणयस्सं <प्राघुणकस्स = पाहुन का

पिक्खिवि <प्रक्ष् + इवि (ल्यप् अर्थ में)

पिचविदेमि <प्रत्यर्पित: + अस्मि = सौंपा गया हूँ

पिदहितुं <पिधातुम्

पिंधउ (<पिदधामि) √ पिंध + उ-उँ (अउँ) वर्तमान उ० पुं० एकवचन

पिलन्धापेत्वा <√ पिलन्ध (<अपिनद्ध) + आप् + अय् + त्वा = पिन्हाकर

पिहकं <प्लीहकम्

पिहुलवलन्तणिअओज्झरपरिक्खित्ता <पृथुलवत् + निज + अवज्झर + परिक्षिता

पीतिसोमनस्सजाता <प्रीतिसौमनस्यजाता = प्रीति और सौहार्द्र से भरकर

पीलेत्वा <पीडयित्वा

पुट्ठपुब्बा <स्पृष्टपूर्वा: (पूर्व = स्वार्थिक प्रत्यय) = पीटे गये

पुत्तधीतासु <पुत्र + धीता स० ब० व० (दुहित्)

पुत्तिमा <पुत्रवान्—पुत्रवाला

पुत्ते (पुत्रै:) <पुत्त + ए (करण) एहि के हि का लोप कर दिया गया है

पुप्फकण्णिकसदिसं <पुष्पकर्णिकसदृशम्

पुप्फुआसुअन्धेण <करीष (पुप्फुआ = अव्युत्पन्न) + सुगन्धेन

पुवि <पूर्वम्

पुव्वनत्थासणे <पूर्व + न्यस्तासने = पहले से लगाये गये आसन पर

पुव्वो <पूय = पीब

पुव्वोवेइय-लेक्खानुसारेण (पूर्ववेदितलेख्यानुसारेण—पूर्वलिखित लेख के अनुसार

पूतिलतं <पूतिलतां = पोई की लता

पेक्खिअ <प्रेक्ष्य

पोक्खरा <पुष्करात् = कमल से

पोजलन्तहो <प्रज्वलन्तस्य (प्रज्वलत:)

पोट्टे = पेट में (अव्युत्पन्न)

पोथुज्जनिको < पृथक् + जन + इक् = पामरजन

पोनोब्भविका < पौनर्भविका = पुनर्जन्म का कारण बननेवाली

प्रजूहितव्यम् < प्र + √ वू (जुहू) + तव्य

प्रठ < प्रस्थ

प्रतअ < प्रातये

प्रथमक्ष्रो < प्रथमतरः

प्रशजति < प्रशंसति

प्रसादे < प्रसादः

प्रहइ < प्रहाय

प्रहिदेमि < प्रहितः + अस्मि = मैंने भेजा

प्रहुअ < प्राभृतं = उपहार

(फ)

फलमिच्छं < फलम् + इच्छन्

फस्सो < स्पर्शो

फालेन्तो < स्फालयन्

फासुविहालतं < स्पशु (प्राशु) विहारतां = सुखविहार

फुट्ट < स्फुटित

फुडं—स्फुटम्

फुसितो < √ स्पृश् + क्त

फेणकुसुमन्तरुत्तिण्णकेसराअखेरविरमऊलाइं < फेनकुसुमन्तरोत्तीर्णकेसराकारवेपिर + मयूखानि

(ब)

बन्धुयत्तु < बन्धुदत्तः

बंधे < बन्धः

बप्पीकी < पैतृकी = पिता की

बहिणिआए < भगिनिकायाः

बहोषुकेण < बहु + औत्सुक्येन

बालवालुंकितन्तुकुडिलाणं < वाल + वालुंकी (अव्युत्पन्न) = ककड़ी + तन्तुकुटिलानाम् = ककड़ी की बतिया के रेशे की तरह कमजोर

बासट्ठि < द्वाषष्ठिः (बा + सट्ठि)

बाहित्वा < बहिर् + (नामधातु) + क्त्वा = ऊपर उठाकर

बेभ = बेवा (ईरानी व्युत्पत्ति)

बोधिसत्तरूपसिरं <बोधिसत्त्वरूपश्रीं = बोधिसत्त्व की रूपशोभा को
वीतिसारेत्वा < वि + अति + √सारि + क्त्वा (ल्यप्) = करके
वोलीणे <(अव्युत्पन्न) उक्ते

(भ)

भग्गेन = टुकड़े-टुकड़े करके
भग्गा <भग्नाः = भागे
भतिया < भृत्या = नौकरी
भद्दवउ <भाद्रपदः
भमरकवलिअन्ता <भ्रमरकवलितान्ताः
भमरुच्छङ्गं <भ्रमरोत्सङ्गम्
भलओ <(भव्यः) = भले
भिखुपाये <भिक्षुप्रायः
भिन्तो <भिन्दः
भिसनको <भीषणकः = भयंकर
भिय्योसोमत्ताय < भूयः (>भूय्य >भिय्य) + सुमात्रया = और अधिक मात्रा में
भिसी <वृषी = आसन (चटाई)
भुद्रजुं <भद्रं + यूह = आपका कल्याण हो
भुंहडी < भूमिटी
भारहें <भारते

(म)

मअगल <मदकलः
मउलउ < मुकुलतु
मक्खिता <म्रक्षिता = लिप्त
मजुर <मयूर
मज्झान्तिकसुरियो < मध्यान्तिकसूर्यः = दुपहर के सूर्य
मणयं <मनाग्
मण्डुक्कनासं < माण्डूक्यनासम् = मेंढक की तरह नाकवाला
मनसाकासि <मनसा + अकार्षीत् (√कृ + लुङ्, प्रथम पुरुष एकवचन)
मनापा <मन + आपा (<मनस् + √आप् + अ + आ)
मूलेन <मूल्येन
मंससूला <मांसशूलौ
महत्त-विहत्त-गंडलेहं <महद् + विभक्त + गण्डलेखम् = बहुत बड़े घाव के निशान-
वाले
महमगन < महामार्गाणाम्

सहरयज्ञ <महाराजस्य

महल्लमंहुज्जमविज्जेम् <महत्त्वं महोद्यमविद्यया

महामणिभाशुले <महामणिभास्वरः

महालिहलदणेण <महार्हरत्नेन

महिया <मह्याः = मही नदी के

महिहिं <मह्याम्

महसक्खो <महेशाख्यः = बहुत बड़ा, ऐश्वर्यशाली महेश नाम का

मापेसि < √ माङ् + लुङ् + (प्रथम पुरुष एकवचन)

मारिज्जिहिसि < √ मृ + णिच् + (कर्मवाच्य) + लृट् = मारे जाओगे

मारुअभिरिज्जन्ता <मारुतभ्रियमाणाः

मालुवा = एक लता का नाम

माहणीए <माहनीय + (षष्ठी एकवचन) = सम्माननीय

माहउ <माधकः (माधवः)

मुक्कोअआइं <मुक्तोदकानि

मुच्छि √ मुच्छ + इ (अ) कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त के पदान्त 'अ' का लोपकर केवल 'इ' प्रत्यय का प्रयोग

मुञि = मुनिः

मुण्डेऊण < √ मुण्ड + य् + क्त्वान् = मुड़ाकर

मुद्धि <मुग्धे

मुलालयो <मृणाल्यः

मुलुक्खुहिअं <*मूलोक्षुभितम्

मुल्लकहा < मूल्य + कथा

मुसावादं <मृषावादम्

मिअच्छि <मृगाक्षि

मिगव <मृगयाम्

मिगवधपसुतो <मृगवधः = प्रसृतः = मृगवध में लगा हुआ

मिल्लीणा <मिलिता

मेच्छहके (म्लेच्छानां) √ मिच्छ + ह (सम्बन्धकारक बहुवचन) + के (सम्भवतः परसर्ग है)

मोडिवि = मोड़कर

मोजे = मया

मोत्तागब्भिणसोणिअभरेन्तुकुहकंदरा <मुक्तागर्भितशोणितभरतकुहकन्दराः

मोनेयसुत्ते <मौनेयसूत्रम्

मोसोवएसे < मृषोपदेशः

मोहियइं < मोहितानि

(य)

यकनं < यकृत्

यथाभुच्चं < यथा + भूत्यः

ये भुय्येन < यत् + भूयस् + (तृतीया एकवचन)

(र)

रजकिचज < राजकृत्यस्था

रजिजम्न < राज + इष् + (तृतीया एकवचन) = राजा की इच्छा से

रज्जन्ति < रज्यन्ते = फबते हैं

रयसछि < राजसाक्षि = राजा द्वारा देखा गया

राजुपट्ठानेन < राज्ञः + उप + √स्था + ल्युट् + (करणकारक एकवचन) = राजा की सेवा से

राजेन < राज्येन

राहा-मुह-महु < राधामुखमधु

रुक्खकोट्ठकसकुणो < वृक्षकोष्ठकशकुनः

रूअं < रूपम्

रेणुक्करडि < रेणु + उत्कर + टी = धूलिसमूह

रोगनिड्डं < रोगनीडम्

रोयअ < रोचयेत्

रोयमाणी < √ रोद (< रुद्) + दानच् + ई (स्त्रीप्रत्यय) = रोती हुई

(ल)

लव्रण < लवण (संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति)

लवेसि < लपय = बोलो

लहुईहुआ < लघुकीभूतः = छोटा हो गया

लाअकीए < राजकीयः

लाअशालअ शंडाणेण < राजश्यालकसंस्थाकेन

लाधुलोवादे < राहु लः + अववादः = राहुल की शिक्षा

लाभग्गयसग्गपत्तो < लाभाग्र + यशः + अग्र + प्राप्तः = अग्रलाभ एवं अग्रयश पानेवाला

लायण्णं < लावण्यम्

लुक्ख-देशिए < रुक्षदेशीयः = रूखा-सूखा-सा

लूसिंसु < √ रुष् + लङ्

लिविस्तरंमि < लिपिविस्तरे = ब्योरे में

लेख-रूप-गणना-ववहारविधिविसारदेन < लेखरूपगणनाव्यवहारविशारदेन

लेआगज़ < लेखहारकस्य

लोकवढणो < लोकवर्धनः

लोणजलपहयानि < लवणजलप्रहतानि = नमकीन जल से नष्ट

(व)

वक्कं < वृक्कम्

वक्कल < वल्कल ('ल्क' की 'ल' ध्वनि परवर्ती 'क' के कारण 'क' हो गयी है)

वच्चइ < व्रजति

वच्चिहिसि < व्रजिष्यसि

वजिरं < वज्रं = हीरा

वज्ज < वाद्यानि (बाजा)

वज्जपडहो < वध्यपटहः

वज्जरिउ < *वद्य + त (> ड > र) + क (बोल उठी)

वट्टउँ (< वर्तें)/~ वट्ट + उँ (अउँ)

वडन्ता < पतन्तः

वणआपरा < विनयपरा

वण-लयाण △ वनलतानाम्

वतिं < वृतिं = घेरा

वत्तकल्लाणो < वृत्तकल्याणः = मङ्गलकार्य सम्पन्न करनेवाला

वधमांनस < वर्धमानस्य

वधमानसेसयो < वर्धमानशैशवः

वपयन्ति < व्यपयन्ति

वम्म < व्रह्म

वम्महु < मन्मथः

वरिसासमआ < वर्षासमयः

वलाअपन्ति < बलाकापंक्तिम्

ववसायसायरे < व्यवसाय + सागरे

वसा < वशा

वसीअदि < √वस + (भाववाच्य) + ईय + ति (दि) = रह जाता है

वस्सति < वास्यति

वपाओ < वधात्

वड्डुत्तणउं < *महत्त्वं (बड़प्पन)

वाआइ < वाचा (वाच् + (तृतीया एकवचन)

वाएं < वातेन (वात + (तृतीया एकवचन)

वायामो < व्यायामः = प्रयत्न

वावरइ < व्यापारयति

वाहहि <वाहसि

विइक्कंतेहिं < व्यतिक्रान्तैः

विइगिच्छा <विचिकित्सा

विओइअं <वियोजितम्

विक्कमणिहसं <विक्रम + निकषम्

विज्जजिदव्वो <विसर्जितव्यः

विज्जरे < * विद्यरे = हैं (विद्यन्ते)

विज्जावइभासा <विद्यापतिभाषा

विज्झित्वा < √ विध् + क्त्वा = बींधकर

विञ्ञुतं <विज्ञताम्

विणडेइ < विनटयति = विडम्बयति

विनयसमुकसे <विनयसमुत्कर्षः

विप्पटिसारिनो <वि + प्रति + सारिणः + प्रतिकूल

विम्हयमुवेन्ति < विस्मय + उप + √ या + न्ति (लट् , बहुवचन)

वियपउत्ता <विजयप्रवृत्ताः

विरह उल्हावयरु < विरह + उल्लासकरः = विरह शान्त करनेवाला

विरुज्झउ < विरुद्धः (√ विरुज्झ + उ (कर्मवाच्य भूतकालिक कृदन्त रूप)

विवज्जणीअए <विवर्जनीयकः

विवटा < विवृता = खुली

विशुमलिदे <विस्मृतः

विश्पशम् <विश्वासम्

विस्सं <वेश्यं

विहथिदि < विहर्षति (विहरिष्यति)

वीमंसति <√ मान + स = मान + मान + स + ति (लट्) > वी + मं + स + ति > वीमंसति (मान धातु जब द्वित्व होता है तो प्रथम अंश को 'वी' तथा द्वितीय अंश को 'मं' आदेश होता है

वीस <विषं (छन्दोनिर्वाहार्थ 'इ' का दीर्घीकरण)

व्योषिसि < वि + अव + √ सृज् + (लट्) (तुम सौंपोगे)

व्रम्म-यियव < ब्रह्मचर्यवान्

(स)

सअडिआए < शकटिकया

सअलमहिवेढविअडो <सकलमहीवेष्टविकटः

सइअन्तरद्धा <स्मृति + अन्तर्धानम्

सइरं < स्वैरं = अपने आप

सएसु < स्वकेषु

सकसरीरं < स्वकशरीरं

सक्खरकठलवालिका < शर्कर + कठलवालुका = खरी और खादार बालू

सक्खा < शक्या

सत्तुना < सक्तुना

सच्चवज्जेन < सत्यवचेन = सच बोलने से

सच्चकिरियं < सत्यक्रियाम्

सचाहं < स + चेत् + अहं = यदि मैं

सज्जु < सद्यः

सण्णिओ < शञ्जितः = इशारा किया गया

सतसहस्सग्घनकं < शतसहस्र + अर्घनकं = शतसहस्रमूल्यवाले

सत्तामच्चसतानुगो < सप्त + अमात्य + शत + अनुगः

सत्थओ < सार्थकः

सदामन्तभेए < स्वदारमन्त्रभेदः

सन्तस्स < श्रान्तस्य

सन्नेहडउ < सन्देशटकम्

समयम्वि < *समाजस्मिन् (समाजे)

समिञ्जन्ति < सम् + ऋजन्ति

समीरति < समीर्यते

सम्भरिअम् < संस्भृतम्

सम्मासति < सम्यक् स्मृतिः

सम्मुतीति < संवृतः + इति

सरावि < शरावे

संवणपहणिविट्ठा < स्वप्नपथनिविष्ठा

सव-विजावदातेन < सर्वविद्यावदातेन

सवूयानप (टि)-संथयनं < सर्वोद्यानप्रतिसंस्थापनम्

ससुमते < साधुमतः

सहसाभक्खाण < सहसा + अभ्याख्यान

साअदं < स्वागतम्

साणचिक्खिल्लं, < श्यानपङ्कम् ('चिक्खिल्लं' अव्युत्पन्न)

साद्यं < सद्यः + (तद्धित) = तुरन्त का बना हुआ

सायरु < सागरः

साराणीयं < √सारि + अनीयर् = रसास्वादक

सावय > शावक

सिअब्भाइम् > सिताभ्राणि

सिविणन्तरि > स्वप्नान्तरे

सिस्सिणीपरिवारा > *शिष्यिणी + परिवारा

सुओ > सुतः

सुज़मद्दिदज़गप > सुसमाद्रितसंकल्पाः

सुप्रवेदिदि > सुप्रवेदिते

सुमणोवण्णअं > सुमनोवर्णकम् = पुष्प और आलेपन

सुयतमानुसो > श्रूयते अमानुषः

सुरिउ > सूर्य

सुरुङ्गायं > सुरङ्गायाम्

सुवण्णरजतपातीहि > सुवर्णरजतपात्रीभिः

सुसंखता > सुसंस्कृता

सुहच्छीतिलवणि > सुखासिकातिलवने

सूलाए > शूलायाम्

सोणिरूपेन > शुनीरूपेण

सोतापन्नो > स्रोतः + आपन्नः = संसार के प्रवाह में पड़ा हुआ

सोत्तु > *स्वप्तुम्

सेम्हं > श्लेष्म

सेय्थीदं > (तत् से व्युत्पन्न त) सो > से + यथा + इदम्

सेहालिआगुम्हआणि > शेफालिकागुल्मकानि

सोयं > स्रोतः

सोयार > श्रोतारः

सोवण्णअसडिअं > सुवर्णशकटिकाम्

संथव > संस्तवः

संमरन्तीए > संस्मरन्त्याः

संसन्देत्वा > सं + √सन्द् + क्त्वा = थाह लेना

स्तोर = एक विशेष प्रकार का द्रव्य

स्पस > स्पर्श = पहरा

स्पोरं > स्फुरम्

स्रेव > सर्वः

स्वदिमद > स्मृतिमन्त्र

स्विहओ > स्पृहयन्

(ष)

षिय > स्यात्

(श)

शनुलाणं <स्वकुलानाम् = कुत्तों का

शक्खिके <साक्षिकः

शत्त < *युत्तः (= शुष्क) = सूखा मसाला

शछ्यामि < शक्ष्यामि

शमाशादिरे < समासादितः

शहिअं <सभिकम् = जुआ खेलानेवाले

शोत्तिए < श्रोत्रियम्

(ह)

हकं <अहकं

हग्गे <अहकः (अहं)

हमस्मि <अहम् + अस्मि

हमा < मम (अस्मद् = षष्ठी एकवचन)

हमियाये < मया

हम >मम

हरित कलापक = उड़द या मूँग

हलिद्दीए < हरिद्रया

हसंतनु <हसन् 'वर्तमानकालिक कृदन्त रूप'

हिद <दूध (इह)

हु < खलु

हुन्तनु < भवन्त + कः (पर सर्ग पंचमी के अर्थ में)

हुराहुरं < हुरात् + हुरं (<असोः + असुं) = एक जन्म से दूसरे जन्म का

हेट्ठा < धेस्तात् <अधस्तात् = नीचे

होस्सतीति <भविष्यति + इति

हंअन्ति < हन्यते

———

